इकाई 15 निबंध : धोखा

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 प्रतापनारायण मिश्र का लेखकीय व्यक्तित्व
15.3 **धोखा** निबंध की अंतर्वस्तु
15.4 निबंध पर लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव
15.5 निबंध का प्रतिपाद्य
15.6 निबंध का भाषिक सौंदर्य
15.7 निबंध की शैलीगत विशेषताएँ
15.8 सारांश

15.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 (एम.एच.डी.-4) 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के चौथे खंड से हम गद्य की अन्य विधाओं का अध्ययन आरंभ करने जा रहे हैं। इस खंड में आप पाँच निबंधों के बारे में अध्ययन करेंगे। इसके बाद के खंडों में निबंध के अलावा जो अन्य गद्य विधाएँ हैं, उनसे संबंधित इकाइयाँ होंगी। इस खंड में कुल पाँच इकाइयाँ हैं।

निबंध गद्य की सबसे महत्वपूर्ण विधा है। इस इकाई में आप भारतेंदु युग के प्रमुख निबंधकार प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** के बारे में अध्ययन करेंगे। हिंदी में निबंधों की शुरुआत भारतेंदु युग से हुई थी। इस दृष्टि से प्रस्तुत निबंध का अध्ययन करने से आपको उस युग के गद्य और खासतौर पर निबंध रचना की विशेषताओं को समझने में मदद मिलेगी।

प्रतापनारायण मिश्र भारतेंदु युग के प्रमुख लेखक हैं। अपने निबंधों के द्वारा उन्होंने तत्कालीन गद्य साहित्य को समृद्ध किया है। उनके निबंधों की भाषा और शैली की विशेषताओं के अध्ययन द्वारा आप उनके निबंध की विशेषताओं को समझ सकेंगे।

धोखा निबंध इस अध्ययन का आधार है। इस इकाई में इस निबंध की अंतर्वस्तु, निबंध पर लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव, निबंध में व्यक्त प्रतिपाद्य, उसके भाषिक सौंदर्य और शैलीगत वैशिष्ट्य पर भी विचार किया गया है। इस अध्ययन से आपको **धोखा** निबंध का विवेचन करने में मदद मिलेगी।

15.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी के चौथे पाठ्यक्रम में आप नाटक और अन्य गद्य विधाओं का अध्ययन कर रहे हैं। गद्य विधाओं की शुरुआत हिंदी में आधुनिक युग से हुई यह आपको हम बता चुके हैं। रीतिकाल तक हिंदी में गद्य लेखन बहुत ही कम हुआ। पहली बार हिंदी में गद्य की शुरुआत तेज़ी से उन्नीसवीं सदी में हई जब प्रेस की स्थापना ने अखबारों और पत्रिकाओं के प्रकाशन को मुमकिन बनाया। हिंदी में भी कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ हुआ। खासकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, जिसे हम हिंदी साहित्य के इतिहास में भारतेंदु युग के नाम से जानते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र को इस युग का प्रवर्त्तक माना जाता है। उन्होंने हिदीं में कई महत्वपूर्ण पत्रिकाओं की शुरुआत की, साथ ही कई अन्य लेखकों ने उनसे प्रेरणा लेकर पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ किया। इन सबका अध्ययन आप हिंदी साहित्य का इतिहास के पाठ्यक्रम में विस्तार से करेंगे।

भारतेंदु युग के लेखकों ने कविताओं के साथ-साथ गद्य लेखन की ओर खास तौर पर ध्यान दिया। इसकी वजह यह भी थी कि वे स्वयं या तो पत्रिकाओं का प्रकाशन करते थे या हिंदी में प्रकाशित होने वाली दूसरी पत्रिकाओं में लिखा करते थे। यही कारण है कि इस दौर में गद्य लेखन के अंतर्गत निबंध लेखन पर विशेष ध्यान दिया गया। भारतेंदु तो इसमें अग्रणी थे ही, साथ ही, उनके समकालीन लेखकों में प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी आदि प्रमुख थे। हम इस इकाई में भारतेंदु युग के अत्यंत महत्वपूर्ण लेखक प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** पर विचार करेंगे। इस इकाई को पढ़ने से पहले आपने **धोखा** निबंध पढ़ लिया होगा। अगर नहीं पढ़ा है तो ज़रूर पढ़ लें।

इस निबंध के अध्ययन में आपको निबंध की अंतर्वस्तु के बारे में तो जानने को मिलेगा ही साथ ही प्रतापनारायण मिश्र के लेखकीय व्यक्तित्व का निबंध पर प्रभाव और इस निबंध की भाषा और शैलीगत विशेषताओं के बारे में भी समझने का अवसर मिलेगा।

15.2 प्रतापनारायण मिश्र का लेखकीय व्यक्तित्व

प्रतापरायण मिश्र भारतेंदु मंडल के प्रमुख सदस्य थे। वे उन लेखकों में से थे जो भारतेंदु द्वारा हिंदी जाति के उत्थान के लिए किए जाने वालों कार्यों में पूरी आस्था रखते थे। मिश्रजी ने भारतेंदु की मृत्यु के बाद नवजागरण के कार्य को न सिर्फ जारी रखा बल्कि उसे आगे बढ़ाया। मिश्रजी 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका निकाला करते थे और उसके माध्यम से वे इस महत्त कार्य को आगे बढ़ाने में पूरी लगन से जुटे रहे। उनके इस योगदान को देखकर ही उनके समकालीन और भारतेंदु मंडल के ही एक और प्रमुख सदस्य बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था, 'प्रातः स्मरणीय बाबू हरिश्चंद्र को जो हिंदी का जन्मदाता कहें तो प्रताप (नारायण) मिश्र को निस्संदेह उस स्तनधन्या दुधमुंही बालिका का पालन-पोषणकर्ता कहना ही पड़ेगा, क्योंकि हरिश्चंद्र के उपरांत उसे अनेक रोग दोष से सर्वदा नष्ट हो जाने से बचा रखने वाले यही देख पड़े हैं।' इसी तरह भारतेंदु युग और द्विवेदी युग के संधिकाल के लेखक बाबू बालमुकुंद गुप्त के शब्दों में, 'पं. प्रतापनारायण मिश्र में बहुत बातें हरिश्चंद्र की सी थीं। कितनी ही बातों में कम थे, पर एकाध में बढ़कर भी थे।' उन्होंने प्रतापनारायण मिश्र का परिचय इन शब्दों में दिया : 'हिंदी साहित्य के आकाश में हरिश्चंद्र के उदय होने के थोड़े ही दिन पश्चात् एक ऐसा चमकता हुआ तारा उदय हुआ था, जिसकी चमक-दमक को देखकर लोग उसे दूसरा चंद्र कहने लगे थे। उस चंद्र के अस्त होने के पश्चात् इस तारे की ज्योतिमह ध्वनि निकलने लगी कि यही उस चंद्र की जगह लेगा।' अपनी भूमिका के ऐतिहासिक महत्व का एहसास खुद मिश्रजी को था। उन्होंने स्वयं ये उद्‌गार प्रकट किए थे: 'बाज-बाज लोग हमें श्री हरिश्चंद्र का स्मारक समझते हैं। बाजों का ख्याल है कि उनके बाद उनका सा रंग-ढंग कुछ इसी में है। हमको स्वयं इस बात का घमंड है कि जिस मदिरा का पूर्ण कुम्भ उनके अधिकार में था, उसी का एक प्याला हमें भी दिया गया है और उसी के प्रभाव से बहुतेरे हमारे दर्शन की देवताओं के दर्शन की भाँति इच्छा करते हैं।' कहने का तात्पर्य यही है कि भारतेंदु ने जिस परंपरा की शुरुआत की उसको आगे बढ़ाने में सबसे ज्यादा अग्रणी मिश्रजी ही रहे।

प्रतापनारायण मिश्र (जन्मः 1856) को पूरी स्कूली शिक्षा नहीं मिल पाई थी। उन्होंने स्वाध्याय के बल पर अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। उस समय के हिंदी लेखक बंगला भाषा का ज्ञान रखते थे। मिश्रजी ने बंगला से बंकिमचंद्र चट्टोपध्याय के उपन्यासों और ईश्वरचंद्र विद्यासागर की पुस्तकों के अनुवाद किए। साथ ही उन्हें संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं का भी ज्ञान था। वे अंग्रेज़ी का भी कामचलाऊ ज्ञान रखते थे। इस तरह उन्होंने अपने को नवजारगण के महत्ती कार्य को संपन्न करने योग्य बनाने का प्रयत्न किया। यद्यपि मिश्रजी ने कविता, नाटक आदि साहित्य की कई विधाओं में लेखन कार्य किया। लेकिन एक बौद्धिक के रूप में उन्होंने अपने कार्य का मुख्य क्षेत्र पत्रकारिता को चुना।

मिश्रजी की पत्रकारिता एक मिशन की तरह थी। वह इस उद्देश्य से प्रेरित थे कि देश का उत्थान कैसे हो सकता है। हिंदी की पत्रकारिता के अभाव को देखकर ही उन्होंने मार्च 1883 से कानपुर से 'ब्राह्मण' निकालने का फैसला किया। यह पत्र वह जैसे-तैसे निकालते रहे। बीच-बीच में कभी-कभी अर्थाभाव के कारण इसे बंद भी होना पड़ा। आप 'ब्राह्मण' को पुत्र से भी अधिक स्नेह करते थे। अस्वस्थता के कारण मार्च 1886 से जुलाई 1887 तक 'ब्राह्मण' नहीं निकल सका। 1888 में हिंदी के पहले दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' के सहकारी संपादक बनकर कालाकांकर गए और 1890 में आपने उससे संबंध विच्छेद कर लिया। यह दैनिक पत्र राजा रामपालसिंह निकाला करते थे। इसके संपादक मदनमोहन मालवीय थे और वहां मिश्रजी के साथ संपादक मंडल में उस समय के प्रसिद्ध उपन्यासकार गोपालराम गहमरी और बालमुकुंद गुप्त भी थे।

हिंदी पत्रों के बंद होने या देर से निकलने पर आप बड़े दुखी होते थे। वे इसके लिए देशवासियों को कोसते थे कि इतने बड़े देश में थोड़े से देश हितैषी समाचारपत्र भी नहीं रह सकते। वे कहते हैं :'अरे, भाग्यहीन हिंन्दुस्तानियो! क्या तुम्हें अपनी भाषा तक ही इतनी ममता नहीं रही कि दस-बीस छोटे-मोटे समाचारपत्रों को कायम रख सको।' प्रतापनारायण मिश्र के लिए पत्रकारिता का मकसद नवजारगण के कार्य को आगे बढ़ाना था।

मिश्रजी की अधिकांश रचनाएँ 'ब्राह्मण' पत्र में ही निकली। पूरा पत्र प्रायः इन्हीं के द्वारा लिखा होता था। 'ब्राह्मण' की फाइलों में से उनके लेखों के एक संग्रह का प्रकाशन डॉ0 विजयशंकर मल्ल के संपादन में नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा 'प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली' के नमा से किया। अभी कुछ वर्ष पूर्व आपकी कविताओं का महत्वपूर्ण संग्रह नरेशचंद्र चतुर्वेदी द्वारा प्रकाशित हुआ। लेकिन उनका संपूर्ण लेखन अभी तक प्रकाश में नहीं आया है।

प्रतापनारायण मिश्र मुख्यतः कवि थे। उन्होंने भक्ति, श्रृंगार, समाज सुधार और देशभक्ति से संबंधित कविताओं की रचनाएँ कीं। वे कविता में ब्रज भाषा के समर्थक थे। भक्ति और श्रृंगार के अलावा उनकी देश भक्ति पूर्ण रचनाओं में ब्रैडला स्वागत, बेगारी विलाप आदि प्रमुख हैं। मिश्रजी ने कविताओं के अलावा नाटकों की रचना भी की। इनके नाटक आमतौर पर देशभक्ति और देशोत्थान की भावना से प्रेरित होते थे। नाटकों मे कलिकौतुक रूपक, हठी हम्मीर, भारतदुर्दशा रूपक, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने बंगला भाषा से उपन्यासों और बच्चों के लिए ज्ञानवर्धक और उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद भी किया था। इनमें बंकिमचंद्र के उपन्यासों और ईश्वरचंद्र विद्यासागर की शिक्षा संबंधी पुस्तकों का उल्लेख करना ज़रूरी है।

मिश्रजी का निबंध साहित्य

गद्य की विभिन्न विधाओं को शुरू करने का श्रेय भारतेंदु युग को है। नाटक के विकास का श्रेय यदि भारतेंदु हरिश्चंद्र को है, तो, निबंध के विकास का श्रेय बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र को जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, 'पं. प्रतापनारायण मिश्र और पं. बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य साहित्य के क्षेत्र में वही काम किया, जो अंग्रेजी गद्य साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था।' मिश्रजी के संपूर्ण लेखन में निबंधों का सर्वाधिक महत्व है। आज भी उनका निबंधकार रूप ही अधिक याद किया जाता है। डॉ. रामविलास शर्मा उनके निबंधों की मौलिकता दर्शाते हुए लिखते हैं : 'निबंध लिखना हिंदी में नई चीज़ थी। बंगला में उपन्यास, कविता, नाटक के लिए आदर्श मिल सकते थे, परंतु प्रतापनारायण मिश्र के से निबंध हिंदी की अपनी उपज थे।'

निबंधकार के रूप में आपके इस महत्व को सभी ने एकमत से स्वीकारा है। इनके कुछ निबंधों का पहला संकलन 'निबंध नवनीत' नाम से 1919 ई. में प्रकाशित हुआ था। मात्रा की दृष्टि से भी आपके समग्र लेखन में निबंधों और लेखों की ही संख्या अधिक है। डॉ. विजयशंकर मल्ल के संपादन में 'प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली' भाग-1 में 189 निबंध और लेख संग्रहीत हैं।

विषय की दृष्टि से भी इनके निबंधों में विविधता है। इनके निबंधों के शीर्षक एक या दो वर्ण से लेकर पूरे दोहे तक में हैं। ललित निबंधों के शीर्षक अधिकतर छोटे ही हैं। 'द', 'भौं', 'ट', 'त', 'दो' आदि निबंध एक वर्ण के शीर्षक वाले हैं।

विषय की दृष्टि से इन निबंधों में विविधता है। आपने समाज सुधार, देशोन्नति, राजनीति, धार्मिक सुधार, निजभाषा आदि से संबंधित निबंध और लेख लिखे। नारी, स्त्री, जुआ, सहबास बिल अवश्य पास होगा, रसिक समाज, सोश्यल कांफ्रेंस, बाल्यविवाह, विलायतभामा आदि कुछ समाजसुधार संबंधी लेख है। बेगार, देशी कपड़ा, टैक्स, हम राजभक्त हैं, कांग्रेस की जय, धरती माता की पूजा, समय का फेर, स्वतंत्रता, उन्नति की धूम, आदि में देश की उन्नति की चिंता से प्रेरित आर्थिक और राजनीति विषयक लेख मिलते हैं। धार्मिक विचारों के लेखों में मुख्यतः मुक्ति के भागी, प्रेम एवं परोधर्म, बलि पर विश्वास, नास्तिक, मतवादी अवश्य नर्क में जायेंगे, धर्म और मत, मूर्तिपूजकों की महोषधि, श्रीभारत धर्म महामंडल, अवतार ईश्वर की मूर्ति, पुराण समझने को समझ चाहिए, झगड़ालू पंथ, प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है, गोरक्षा, शैव सर्वस्व आदि आते हैं। हिम्मत राखो एक दिन नागरी का प्रचार अवश्य ही होगा, नागरी महिमा एक चीज़, उरदू बीबी की पूंजी, खड़ी बोली का पद्य आदि निबंध हिदीं और नागरी के प्रचार से संबंधित है।

शैली की दृष्टि से प्रतापनाराण मिश्र के निबंधों को चार भागो में बांट सकते हैं :

1. वर्णनात्मक,
2. विचारात्मक,
3. भावात्मक, और
4. हास्य और व्यंग्यपरक

शैली की दृष्टि से मिश्रजी के निबंधों की सबसे बड़ी विशेषता रोचकता और जीवंतता है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार 'मनोरंजक निबंध रचना को प्रतापनारायण मिश्र ने चरम सीमा तक पहुँचा दिया है।' इस प्रकार मिश्रजी भारतेंदु युग के एक प्रमुख निबंधकार हैं। कई आलोचकों की दृष्टि में बालकृष्ण भट्ट की तुलना में मिश्र जी के निबंधों में लालित्य और रोचकता के अधिक दर्शन होते हैं।

15.3 'धोखा' निबंध की अंतर्वस्तु

धोखा एक ललित निबंध है। यह निबंध पहली बार 'ब्राह्मण' के खंड 9, अंक 9 मे प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 1919 में जब उनके निबंधों का पहला सकलन 'निबंध नवनीत' नाम से प्रकाशित हुआ तो उसमें यह निबंध संकलित था। यह एक मनोभावात्मक ललित निबंध है। इसमें मिश्रजी ने **धोखा** जैसे सामान्य विषय का बड़े ही मनोरंजक और दार्शनिक तरीके से वर्णन किया है और यह उन जैसे समर्थ लेखक द्वारा ही संभव था। इस निबंध में लेखक ने यह बताने की चेष्टा की है कि इंसान कैसे **धोखा** खाता है और किस तरह धोखे से निकलने की कोशिश करते हुए दूसरों को **धोखा** देने की चेष्टा करता है। **धोखा** सामान्य अनुभव का शब्द है। हम अपने दैनिक जीवन में इस शब्द का प्रयोग नकारात्मक अर्थ में करते हैं। **धोखा** देना अगर बुरा समझा जाता है, तो, किसी से **धोखा** खाना मूर्खता। लेकिन यह छोटा शब्द कितने बड़े निहितार्थ भी अपने में छुपाए हुए है, यह निबंध पढ़कर ही जाना जा सकता है। प्रतापनारायण मिश्र ने इस निबंध में दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अत्यंत रोचक प्रयोग करके जीवन और जगत संबंधी कई महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ की हैं। इकाई में आगे हम इस निबंध की अंतर्वस्तु और भाषा-शिल्प का विवेचन करेंगे ताकि आपको निबंध को समझने में आसानी हो।

मिश्रजी का यह निबंध आकार में छोटा है। इसका मुख्य विषय **धोखा** शब्द की विवेचना करना है। **धोखा** सामान्य व्यवहार का हिदीं शब्द है। लोक व्यवहार में हम इसका व्यवहार कई प्रसंगों

में करते हैं। शब्दकोश में इसकी व्याख्या 'वस्तुस्थिति को छिपाकर दूसरों को भ्रम में डालने का व्यापार' के रूप में की गई है। इसके अन्य अर्थों में वंचना, विश्वासघात, दगा, झूठी बात या नकली चीज़ में विश्वास करने से होने वाला भ्रम, भुलावा, कुछ को कुछ समझ लेने का भाव, मिथ्या प्रतीति, भ्रम में डालने वाली वस्तु आदि हैं। हम आमतौर पर इन सभी अर्थों में इस शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने इन्हीं व्यवहारों को कुछ ऐसे प्रसंगों में प्रयुक्त किया है, जिससे जीवन और जगत संबंधी उनके सोच का पता लगता है। इनमें सबसे प्रमुख है, ईश्वर संबंधी उनका सोच।

ईश्वर संबंधी चिंतन

निबंध के आरंभ में ही मिश्रजी ने रामायण के एक प्रसंग का उल्लेख किया है। यह प्रसंग है, मारीच राक्षस द्वारा स्वर्णमृग बनकर भगवान् रामचंद्र को **धोखा** देना। रामायण के अनुसार इस स्वर्णमृग को प्राप्त करने की सीता की इच्छा को पूरा करने के लिए राम उसके पीछे धनुष लेके जाते हैं और पीछे से रावण सीता का अपहरण कर लेता है। राम को हिंदू पुराणों में ईश्वर का अवतार माना गया है। अगर राम ईश्वर के अवतार हैं तो वे सर्वज्ञ भी हैं। यानी जो ईश्वर है, सृष्टि का नियंता है, जिसकी इच्छा से ही दुनिया का व्यापार चलता है, अगर वही यह नही पहचान पाया कि दिखाई देने वाला सुवर्ण मृग नही मारीच राक्षस है, तो हम-आप के लिए **धोखा** खाना कितना आसान है। मिश्रजी अपनी बात इसी तर्क से शुरू करते हैं। वे लिखते हैं : 'इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान रामचंद्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो **धोखा** न खाएँ?' तात्पर्य यह है कि भगवान भी **धोखा** खा सकते हैं। कम-से-कम रामायण की उक्त बात से तो यही प्रमाणित होता हे। लेकिन अगर ईश्वर ईश्वर है तो वह **धोखा** नहीं खा सकता। अगर **धोखा** खाता है तो वह ईश्वर नहीं है। शायद यही विचार उनके मन में था इसलिए उन्होंने ईश्वर के **धोखा** खाने के उक्त प्रसंग का एक उत्तर देने का प्रयास किया। वे आगे लिखते हैं : 'बरंच ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे प्रथक् रहता है....' यानी रामचंद्र ने **धोखा** इसलिए खाया क्योंकि राम के रूप में वे मनुष्य रूप में थे और मनुष्य के लिए **धोखा** खाना ओर **धोखा** देना दोनों अत्यंत सहज है। यहाँ वे ईश्वर के दो रूपों को एक दूसरे से अलग करते हैं निराकार और साकार रूप। हिंदू परंपरा में ईश्वर के इन दोनों रूपों को स्वीकार किया गया है। जो ईश्वर को साकार और सगुण मानते हैं वे ही उनके अवतारों को भी मानते हैं। राम ऐसे ही एक अवतार हैं।

लेकिन मिश्रजी की बौद्धिकता को अपना यह तर्क बहुत संतुष्ट नहीं कर पाता। इसलिए इस वाक्य के ही दूसरे भाग में वे दूसरा तर्क पेश कर देते हैं। वे लिखते हैं, '...सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे माया का आश्रय लेना पड़ता है। और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे के ही पर्याय हैं, इस रीति से हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा।' यहाँ अब वे दूसरा तर्क सामने ले आते हैं। ईश्वर साकार हो या निराकार उसी ने इस संसार का निर्माण किया है और संसार का निर्माण करने के लिए अद्वैतवाद के अनुसार वह माया का सहारा लेता है। माया का अर्थ होता है, भ्रम, छल इत्यादि यानी ईश्वर की बनाई यह दुनिया बिना माया के अगर नहीं रची जा सकती तो यह दुनिया उसके द्वारा उत्पन्न एक छल या दूसरे शब्दों में **धोखा** ही है। मिश्र जी ठीक यही बात लिखते भी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर अवतार के रूप में ईश्वर द्वारा खाया गया **धोखा** भ्रम है तो भी निराकार के रूप में तो वह धोखे का ही सहारा लेता है। स्वयं उनक शब्दों में, 'क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह **धोखा** खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ी करता है।' इस प्रकार निबंध के पहले अनुच्छेद में ही वे निबंध को एक अत्यंत दार्शनिक विवाद में उलझा देते हैं। खास बात यह है कि ऐसा करते हुए भी कहीं भी उनकी बात न तो दार्शनिक जटिलता से आक्रांत होती है और न ही उनकी बात में निहित रोचकता कम होती है। यह जरूर जाहिर हो जाता है कि उनके लिए ये सब प्रसंग अत्यंत

सहज है और वे सामान्य लोगों की भाषा में और समझ आने वाले ढंग से उन्हें पेश करने की क्षमता रखते हैं।

ईश्वर संबंधी उनकी विचारणा यही समाप्त नहीं होती, वह आगे भी चलती रहती है। दूसरे अनुच्छेद में ईश्वर के विभिन्न अवतारों का उल्लेख करे हुए वे यह तर्क देते हैं कि 'जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है, वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है?' जाहिर है यहाँ अवतार संबंधी अवधारणा में निहित अविवेकशीलता को ही वे उजागर कर रहे हैं। वे इस विश्वास में निहित अंतर्विरोध को किसी बाहरी साक्ष्य के बल पर नहीं बल्कि ईश्वर संबंधी मान्यता के संबंध में दिए जाने वाले तर्कों के संदर्भ में ही उजागर करते हैं। इसलिए वे आगे तर्क देते हैं कि ईश्वर को शुद्ध निर्भ्रम कैसे कहा जा सकता है, जबकि उसके अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव हो। इस प्रकार मिश्रजी इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि दुनिया के बनाने वाले के बारे में इतना **धोखा** फैला है तो संसार में धोखे का अभाव केसे होगा? इस तर्क से जाहिर है कि स्वयं मिश्रजी पूरी तरह से ईश्वर संबंधी विश्वास को नहीं छोड़ पाए थे, लेकिन उनके मन में संदेह के बीज जरूर उग आए थे। धोखे पर चर्चा के बहाने उन्होने अपने इसी संदेह को व्यक्त किया है।

जगत को मिथ्या भ्रम समझना

इस निबंध में वे दूसरा सवाल उठाते हैं, क्या जगत भ्रम यानी धोखे से मुक्त है? क्या उसका धोखे से मुक्त होना गलत है? और क्या जगत में कोई चीज़ धोखे से रहित हो सकती है? यहाँ फिर वे उसी अद्वैत तर्क प्रणाली का सहारा लेते हैं। संसार मिथ्या भ्रम के सिवा कुछ नहीं है, यह अद्वैतवादियों का मानना है। मिश्रजी इस बात से सहमति जताते हुए कहते हैं, 'भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है, भ्रम ही है।' यहाँ अद्वैतवादी धारणा का समर्थन करते हुए भी वे उसका विरोध कर रहे हैं। अद्वैतवाद संसार को तो माया मानता है, लेकिन भगवान् को नहीं। मिश्रजी अद्वैतवाद के तर्क को उलट देते हैं। वे संसार को मिथ्या या भ्रम मानते ही इंसीलिए है क्योंकि उसको बनाने वाला ईश्वर भी मिथ्या भ्रम है। इस प्रकार वे अद्वैतवाद के सिद्धांत के तार्किक खोखलेपन को उजागर कर देते हैं। अद्वैतवाद में ब्रह्म और जगत के बीच माया का पर्दा है। माया ब्रह्म के स्वरूप को छुपाती है। लेकिन मिश्रजी के अनुसार यह माया ही है जिसने ब्रह्म और जगत दोनों के अस्तित्व को संभव बना रखा है। उन्ही के शब्दों में, 'जब तक भ्रम है, तभी तक संसार है बरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं!' मिश्रजी ने यहाँ लगभग वही बात कह दी है जो उनसे कुछ पूर्व ग़ालिब ने कही थी :

> न था कुछ **तो** खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता।
> डूबोया मुझको होने ने, न मैं होता तो क्या होता।

संसार को मिथ्या मानना भले ही धार्मिक दृष्टि से सही हो, लेकिन लौकिक दृष्टि से सही नहीं है। प्रतापनारायण मिश्र के अनुसार ऐसा व्यक्ति संसार के लिए उपयोगी नहीं रहता। संसार के लिए ऐसे व्यक्ति उनके अनुसार अकर्मण्य है। उन्हीं के अनुसार, 'जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बन कर संसार को सचमुच माया की कल्पना बन बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मान के सर्वथा सुखी हो जाने का **धोखा** खाया करें, पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, बरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और 'नारि नारि सब एक है जस मेहरि तस माय' इत्यादि सिद्धांतों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है।' मिश्रजी के इस कथन का तात्पर्य यही है कि संसार सत्य हो या असत्य, लेकिन मनुष्य के लिए उसे सत्य स्वीकार करने में ही भलाई है। संसार को **धोखा** समझकर उसके व्यापार से विरत रहकर भले ही हम कितने ही बड़े ज्ञानी क्यों न कहलाएँ, सच्चाई सिर्फ इतनी है कि हम इस संसार के लिए व्यर्थ हो जाते हैं। यह संसार, संसार के

सभी पदार्थ, मानव देह और इनसे जुड़े क्रियाकलाप और भावनाओं से ही हमारे जीवन को अर्थ मिलता है।

धोखा निबंध में लेखक ने यह सवाल भी उठाया है कि जीवन और जगत से इतर भी कुछ है या नहीं। इस संबंध में मिश्रजी इस नास्तिक विचार को प्रस्तुत करते हैं कि जीवन जब तक है तभी तक 'मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहाँ इसके क्रम में व्यतिक्रम प्रकट हुआ, वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कंसा जीव? कैसी आत्मा?' न कोई नर्क है और न ही स्वर्ग। जो कुछ है वह इस संसार ही में है। अगर यह संसार माया है तो भी इससे परे कुछ नहीं है। तब लेखक प्रश्न करता है कि क्यों धोखे को लोग बुरा समझते हैं।

धोखे की नीति और बाह्य प्रभाव के विरुद्ध चेतावनी

लेखक ने इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर कहा है कि **धोखा** खाना या **धोखा** देना दोनों ही को बुरा समझा जाता है लेकिन जैसे 'कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगड़ने से बनाव बिगाड़ हो जाया करता है।' उसी तरह **धोखा** देना और **धोखा** खाना भी बुरा या भला हो सकता है। अगर **धोखा** खाकर आदमी संभल जाए तो ऐसा **धोखा** खाना बुरा नहीं है। वे व्यंग्य में यह भी कहते हैं कि **धोखा** देना भी तब तक ठीक है, जब तक **धोखा** पकड़ा न जाए। वे कहते हैं : 'बेईमानी तथा नीतिकुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।' उनके इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे नीतिकुशलता के आवरण में छुपी बेईमानी को अच्छा समझते हैं। बल्कि वे **धोखा** शब्द पर चर्चा करके बेईमानी को नीतिकुशलता समझने की प्रवृत्ति की आलोचना करते हैं। निबंध के अंत में वे उन लोगों से सावधान करते हैं जिन्होंने अपनी भाषा, भोजन, वेशभूषा, भाव और भाईचारे को छोड़ दिया है और जिनकी कोशिश है कि दूसरे लोग भी इन्हें छोड़ दें। इस बात का संबंध धोखे से उतना नहीं है जितना कि देशभक्ति की भावना से है। यहाँ साफतौर पर प्रतापनारायण मिश्र अपने दौर में बढ़ रही उस प्रवृत्ति की आलोचना कर रहे है जिसके अनुसार लोग अंग्रेज़ी शिक्षा और सभ्यता के प्रभाव में आकर अपने देश की सभ्यता और संस्कृति को छोड़ते जा रहे हैं। उनका मानना है कि 'जो पुरुष और पदार्थ अपने न हों वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुंदर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे **धोखा** हो जाना असंभव नहीं है।' यह अंग्रेज़ी राज की राजनीतिक आलोचना नहीं है बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक आलोचना है। इस आलोचना पर हिंदू पुनरुत्थानवाद का भी प्रभाव है। यह इस बात से भी साबित होता है कि निबंध के अंत में वे सिर्फ हिंदुओं को संबोधित करते हुए कहते हैं कि 'इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियों से बचे रहिएगा। नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आंसुओं से धो और खा, क्योंकि जो हिंदू होकर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह **धोखा** खाता है।'

15.4 निबंध पर लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव

भारतेंदु युग के निबंधों पर लेखकों के व्यक्तित्व का प्रभाव साफ तौर पर दिखाई देता है। **धोखा** निबंध पर भी हम प्रतापनारायण मिश्र के व्यक्तित्व की विशेषताओं का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। मिश्रजी के व्यक्तित्व की सर्वप्रमुख विशेषता जिसकी ओर हमारा ध्यान जाता है वह है उनका विवेकशील व्यक्तित्व। इस निबंध में हम उनकी इस विशेषता का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। उन्होंने **धोखा** जैसी मामूली सी बात को जिस तार्किक ढंग से जीवन और जगत से संबंधित दार्शनिक बातों से जोड़ा है और उनको नये अंदाज़ में प्रस्तुत किया है वह उनकी विवेकपूर्ण समझ का ही परिणाम है। निबंध के पहले अनुच्छेद में ही उन्होंने धोखे को ईश्वर की माया शक्ति से जोड़ा है वह इसी विवेक क्षमता का परिणाम है। रामायण की कथा का उदाहरण देते हुए राम द्वारा मारीच को न पहचान पाने को उन्होंने ईश्वर की शक्ति की सीमा

से जोड़ा है और इसी बात को माया से जोड़कर ईश्वर के वजूद के बारे में सवाल खड़ा किया है, वह लेखक की इस क्षमता का प्रमाण है। यह क्षमता हम पूरे निबंध में देख सकते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र के व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता जो इस निबंध में दिखाई देती है, वह है उनकी विद्वता। जीवन और जगत संबंधी दार्शनिक मतों की गहरी समझ तो उनके पास है ही। इसके अलावा उन्होंने प्राचीन भारतीय ग्रंथों के जो उदाहरण दिए हैं, वे भी उनकी विद्वता का ही प्रमाण है। पौराणिक संदर्भों के अलावा वेदादि ग्रंथों से जिस तरह के उदाहरण उन्होंने दिए हैं वे भी इसी बात को साबित करते हैं। मसलन उनका यह उद्धरण देखिए, 'क्योंकि वेदों में उसे 'आश्चर्योस्य वक्ता', 'चित्रन्देवानमुदगातनीक' इत्यादि कहा है और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में **धोखा** ही कहते हैं।' इसी तरह वे 'अविदितिसुखदुख निर्विशेषस्वरूप' या इसी तरह के दार्शनिक पदों का प्रयोग करके अपने विस्तृत ज्ञान का प्रमाण देते हैं। एक अन्य जगह वे तुलसीदास और सूरदास की काव्य पंक्तियों को उद्धृत करते है। इनके अलावा वे दार्शनिक बातों को वैसे ही प्रभावशाली दार्शनिक शब्दावली के माध्यम से व्यक्त करते हैं। मसलन ये वाक्य देखिए' जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है।'

प्रतापनारायण मिश्र के व्यक्तित्व की तीसरी विशेषता जो निबंध में व्यक्त हुई है, वह है, उनकी जिंदादिली और हास्य-व्यंग्य की क्षमता। मसलन हास्य का यह उदाहरण देखिए : '...एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किंतु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वह फूट-फूट कर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझकर रोते क्यों है? उसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है।' इस घटना पर उनके व्यंग्य की बानगी देखिए : 'सच है, भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है।' यहाँ ब्रह्म स्वरूप भगवान को भ्रमस्वरूप कहना और भ्रम के बार-बार प्रयोग द्वारा अनुप्रास का चमत्कार पैदा करना उनके व्यंग्य की ताकत को दिखाता है। व्यंग्य का एक और उदाहरण देखिए : 'हमें आशा है कि इतने लिखने से आप धोखे का तत्व यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो समझ गए होंगे।' निरे खेत के धोखे यानी खेत में खड़ा रहने वाला पुतला (बजूका) जो न बोल सकता है न हिल सकता है लेकिन जिसके कारण पशु-पक्षी धोखे मे रहते हैं। या इन पंक्तियों में उनके जिंदादिल व्यक्तित्व की झलक देखिए : 'स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नर्क और बैकुंठ का पता कहीं नहीं मिला।' या ये पंक्तियाँ देखिए : 'और धोखे से अलग रहना ईश्वर की सामर्थ्य से भी दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे।' यहाँ पिन्न-पिन्न और ढिच्चर-ढिच्चर के प्रयोग से दार्शनिक अवधारणा को बिल्कुल साधारण लोगों के लिए भी सहज और जीवंत बना देने की उनकी क्षमता का बोध होता है। उनकी भाषा की इन विशेषताओं पर हम इकाई में आगे विचार करेंगे। यहाँ हम सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि उनके व्यक्तित्व की इस जिंदादिली की सबसे ज्यादा अभिव्यक्ति भाषा के जरिए ही हुई है।

निबंध में मिश्रजी के व्यक्तित्व की जिस चौथी विशेषता का पता चलता है वह है, अपने देश और समाज के प्रति उनकी गहरी भक्ति। इस निबंध की चर्चा तो वे **धोखा** शब्द में निहित अर्थ-व्याप्ति से करते हैं लेकिन निबंध की समाप्ति वे देशवासियों को अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रति कर्त्तव्य भावना जाग्रत करने से करते हैं। **धोखा** जैसे साधारण उपयोग वाले शब्द को पहले तो वे दार्शनिक और सैद्धांतिक तर्कजाल में उलझाते हैं और वह भी अत्यंत रोचक और सहज ढंग से। फिर वे इस शब्द को देशभक्ति की भावना से जोड़ते हैं। उनका मानना है कि जो लोग अपने देश की भाषा, भाव, भोजन और भेष को छोड़ चुके हैं वे धोखे में हैं। यह विचार भारतेंदु युग के प्रायः सभी लेखकों का रहा है। इसे हम भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखकों में भी देख सकते हैं। यह उस दौर में देशभक्ति के साथ नवजागरण की भावना के असर को भी दिखाता है। नवजागरण के उस दौर में लेखकों पर हिंदू

पुनरुत्थान का असर भी दिखाई देता था। यह असर हम उस युग के अधिकांश लेखकों में देखते हैं और यही असर हमें मिश्रजी में भी दिखाई देता है।

15.5 निबंध का प्रतिपाद्य

धोखा निबंध के द्वारा लेखक क्या कहना चाहता है, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। हमने आरंभ में मिश्रजी के निबंधों की चर्चा करते हुए लिखा था कि उन्होंने देशभक्ति, समाज सुधार, धार्मिक सुधार, राजनीति आदि विषयों पर निबंध लिखे। लेकिन इन विषयों पर उन्होंने हमेशा प्रत्यक्ष ढंग से ही नहीं लिखा है। कई निबंध उन्होंने साधारण या अजीब सी लगने वाली चीज़ों पर लिखे हैं, लेकिन उन पर लिखते हुए भी उन्होंने जहाँ भी मौका मिला है, देशोन्नति और समाज सुधार की बात ज़रूर कह दी है। मसलन होली पर लिखे गए निबंध की इन पंक्तियों को देखिए : 'एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध करके वर्ष भर की कही सुनी क्षमा कर के, हाथ जोड़ के, पाँव पड़ के, मित्रों को मना के, बाहें पसार के उनसे मिलने और यथासामर्थ्य जी खोल के परस्पर की प्रसन्नता संपादन करने का दिन है। जो लोग प्रेम का तत्व तनिक भी नहीं समझते, केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश जाति के, उनसे घृणा न करके, ऊपरी आमोद-प्रमोद में मिला के समयांतर में मित्रता का अधिकारी बनाने की चेष्टा करने का त्योहार है।' इन पंक्तियों में लेखक ने देशवासियों के बीच भाईचारे की ज़रूरत को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर दिया है। **धोखा** निबंध में भी **धोखा** शब्द के बहाने वे अत्यंत जीवंत और रोचक चर्चा करते हैं। इस चर्चा में उनकी विद्वता और बौद्धिकता का प्रमाण मिलता है। लेकिन यह सारी चर्चा अंत में देशवासियों को अपनी कर्तव्य भावना के प्रति जागरूक करने के उद्देश्य से की गई प्रतीत होने लगती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शेष चर्चा का कोई महत्व नहीं है। निश्चय ही है।

जीवन और जगत के बारे में निबंध में की गई चर्चा भारतीय दार्शनिक परंपरा के एक महत्वपूर्ण मत को नये ढंग से सोचने के लिए प्रेरित करती है। यह ज़रूर है कि स्वयं प्रतापनारायण मिश्र के सोच का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता लेकिन शायद यह उनका मकसद ही नहीं है। कहीं-न-कहीं यह निबंधकार की अपनी वैचारिक दुविधा को भी दर्शाता है। आमतौर पर दार्शनिक मत बहुत ही बोझिल और ऊबाऊ समझा जाता है। लेकिन निबंध का प्रत्यक्ष विषय दार्शनिक नहीं है इसलिए निबंधकार को यह स्वतंत्रता प्राप्त है कि वह निबंध के दौरान अपनी बात को जिस ढंग से चाहे कहे। दूसरे, निबंध का प्रत्यक्ष विषय **धोखा** है, इसलिए वह धोखे की चर्चा को कहीं भी हाथ से जाने नहीं देता। अंततः सारी चर्चा वह धोखे के माध्यम से ही करता है।

दार्शनिक चर्चा करते हुए भी लेखक ने यह ध्यान रखा है कि निबंध सामान्य पाठक के लिए रोचक और संप्रेष्य बना रहे। इसलिए वह एक ओर दार्शनिक ग्रंथों से पद उद्धृत करता है तो, दूसरी ओर, वह सामान्य कहावतों का भी प्रयोग करने से नही चूकता। उदाहरण के लिए अद्वैतवाद की यह धारणा कि संसार की सभी वस्तुएँ भ्रम हैं, हम अज्ञानवश उन्हें सत्य समझ लेते हैं। इस बात को वे एक कहावत के जरिए भी बताते हैं 'नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय' यानी सभी स्त्रियाँ एक सी होती हैं चाहे वह घर की नौकरानी हो या माता। यह बात कहने में चाहे कितनी ही वाहियात क्यों न लगती हो, और कोई भी व्यक्ति अपनी माँ को घर की नौकरानी के तुल्य नहीं समझ सकता, उसी तरह संसार की सभी वस्तुओं को मिथ्या मानना और उन्हें एक समान तुच्छ समझना उतनी ही बड़ी मूर्खता है। यानी एक मूर्खतापूर्ण बात दार्शनिक शब्दावली में कहने से विवेकपूर्ण नहीं हो जाती। यही वजह है कि वे आगे लिखते हैं, 'बहुत ज्ञान छांटना सत्यानाशी की जड़ है! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मलमूत्र, मांस मज्जादि, घृणास्पद पदार्थों का विकार मात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं और दर्शन स्पर्शादि से आनंद लाभ करते हैं।' इन पंक्तियों से यह साफ़ जाहिर है कि लेखक इस निबंध में दुनिया को मिथ्या कहने वाले, कर्म को बंधन मानने वाले और जीवन को जंजाल समझने वाले धार्मिक और दार्शनिक विचारों के खोखलेपन को भी उजागर करना चाहते हैं। इन

विचारों के असर को जनता के बीच से दूर करना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि लेखक का मानना है कि ऐसे विचार हमें अकर्मण्यता की ओर ले जाते हैं। और कोई अकर्मण्य जाति न तो अपने देश का भला कर सकती है और न बुरा करने वालों का विरोध करने का साहस दिखा सकती है। जिन लोगों का जीवन और जगत से लगाव होगा वे ही अपने देश ओर देशवासियो से प्यार कर सकेंगे। और जिनसे हम प्यार करते हैं, न तो हम उनका बुरा चाहेंगे, न बुरा करेंगे और न ही बुरा होता हुआ देख सकेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि मिश्रजी ने निबंध में चर्चा चाहे जिस बात की की हो, लेकिन उनका प्रतिपाद्य एक ही है - देश का हित या देश की उन्नति।

निबंध में देश के हित और देश की उन्नति में बाधक बनने वाले विचारों के असर को कम करना भी है। ईश्वर संबंधी विमर्श को भी इसी दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए। वे निबंध में ईश्वर के होने और न होने की बहस को वहाँ तक नहीं ले जाते जहाँ यह तय किया जा सके कि ईश्वर है या नहीं, बल्कि वे ईश्वर संबंधी अवधारणा के ऐसे पहलुओं का विरोध करते हैं जो लोगो को कर्म करने से रोकते हैं। स्वर्ग और नर्क की परिकल्पना या बैकुंठ का विचार उनकी दृष्टि में ऐसी ही अवधारणाएँ हैं। अगर दुनिया **धोखा** है तो इस धोखे से बाहर कुछ भी नहीं है, स्वयं ईश्वर भी नहीं इसलिए दुनिया को **धोखा** मानकर इस दुनिया से मुँह मोड़ने की बजाए इस दुनिया से संबंध जोड़ना ज्यादा जरूरी है।

दुनिया को सत्य समझना और उसके व्यापार में दिलचस्पी लेने वाला व्यक्ति ही अपने देश और समाज के हित के बारे में सोच सकता है और कुछ कर सकता है। मध्ययुग में जिन दार्शनिक विचारों ने समाज में अकर्मण्यता और समाज विमुखता को उत्पन्न किया उनके मोहपाश में बंधे रहकर हम गुलामी की जंजीरों से मुक्त नहीं हो सकते। मिश्रजी जानते हैं कि लोगों को नये विचारों के प्रति आकृष्ट करना आसान नही है। इसलिए वे अंत में लोगों को सावधान करने के लिए अपने बाह्मण होने का भी इस्तेमाल करते हैं : 'जो हिंदू होकर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह **धोखा** खाता है।' यहाँ ब्रह्मवाक्य से तात्पर्य दैवीय वचन से भी है और ब्राह्मण द्वारा कहे कथन से भी। इससे पहले वाले वाक्य में वे कहते हैं, 'नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आंसुओं से धो और खा' यहाँ कुमति से तात्पर्य उसी मत से है जो या तो हमें अकर्मण्य बनाती है या फिर हमें अपनी सभ्यता और संस्कृति से विलग करती है। इन दोनों तरह के धोखे में पड़े लोगों को सावधान करना ही इस निबंध का प्रतिपाद्य है।

15.6 निबंध का भाषिक सौंदर्य

हिंदी में भारतेंदु युग को हिंदी गद्य के निर्माण का युग भी कहा जाता है। इससे पहले के सभी युगों में साहित्य रचना पद्य में होती थी। हम यहाँ इस बहस में नहीं जाएँगे कि उन्नीसवीं सदी में गद्य लेखन के उदय के कारण क्या थे। लेकिन जैसा कि आपने हिदीं साहित्य के इतिहास के अध्ययन के दौरान पढ़ा होगा कि गद्य लेखन के विकास में अहम भूमिका उन पत्र-पत्रिकाओं ने निभाई जिनका प्रकाशन उन्नीसवीं सदी में शुरू हुआ था। भारतेदु युग के अधिकांश लेखक या तो स्वयं पत्र-पत्रिकाओं को प्रकाशित करते थे या वे उनमें नियमित रूप से लिखते थे। प्रतापनारायण मिश्र कानपुर से 'ब्राह्मण' नाम की पत्रिका का प्रकाशन और संपादन करते थे। और उसमें ही उनकी ज्यादातर रचनाएँ प्राकशित भी हुईं। 'ब्राह्मण' के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न तरह के निबंध लिखे। निबंध को गद्य की कसौटी माना गया है। गद्य के इस आरंभिक युग में लेखकों के लिए निबंध के जरिए अपनी बात कहने में रचनात्मकता को व्यक्त करने की ज्यादा संभावना नज़र आती थी। यही कारण है कि इस युग का निबंध साहित्य अत्यंत समृद्ध है।

निबंध में लेखकों को भाषा के साथा रचनात्मक खिलवाड़ करने की ज्यादा स्वतंत्रता नज़र आती थी। यही कारण है कि इस युग के लेखकों के निबंध पढ़ते हुए हमें उनकी भाषा की

शक्ति का सहज ही प्रमाण मिल जाता है। **धोखा** निबंध प्रतापनारायण मिश्र की भाषिक शक्ति का उत्कृष्ट उदहारण है। हम यहाँ इस निबंध की भाषा संबंधी विशेषताओं पर विचार करेंगे।

मिश्रजी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है, उसकी जीवंतता। अपनी बात कहने के लिए उनको कभी शब्दों का अभाव नहीं खटकता। बात के अनुसार उनके वाक्य निर्मित होते जाते हैं। मसलन गूढ़ दार्शनिक वाक्य देखिए : '...जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्यों कर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसके अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा?' लेकिन ऐसी विचार प्रधान बात को वे अनुप्रास और रूपकों का प्रयोग करके काव्यमय भी बना देते हैं। मसलन यह कथन : 'भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है वह भ्रम ही है।' रूपक का उदहारण देखिए : 'घड़ी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक-ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट खट, टन टन आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा नहीं न उसकी गति है, न शब्द हैं।' रूपक के इस उदाहरण में ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने घड़ी के चलने की ध्वनि को भी खट खट और टन टन के द्वारा जीवंत बना दिया है। इसी तरह का एक और उदाहरण : 'धोखे के कारण संसार का चर्खा पिन्न पिन्न चला जाता हे, नहीं तो ढिच्चर ढिच्चर होने लगे। यहाँ चर्खा चलने की दो भिन्न गतियों को पिन्न पिन्न और ढिच्चर ढिच्चर के द्वारा व्यक्त किया गया है। पहले में चर्खा चलने में निरंतरता और सहजता का आभास होता है जबकि दूसरे में इन दोनों का अभाव जाहिर हो जाता है। यहाँ चर्खा तेज़ आवाज़ करता हुआ रूक-रूक कर चल रहा है। इस प्रकार शब्दों के इन काव्यात्मक प्रयोगों से निबंध की भाषा में रचनात्मकता का समावेश हो गया है।

मिश्रजी ने अपने निबंध में कहावतों और मुहावरों का भी अत्यंत सुंदर प्रयोग किया है। मसलन इस वाक्य में धोखा से जुड़े मुहावरों का प्रयोग देखा जा सकता है : 'क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह **धोखा** खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माय का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ा करता है।' मुहावरों के प्रयोग पूरे निबंध में हर कहीं देखे जा सकते हैं। कलई खुलना, प्रपंच रचना, नाक भौंह सिकोड़ना, आगा पीछा सोचना, खेल बिगड़ना आदि मुहावरों के प्रयोग से भाषा अत्यंत जीवंत हो गई है। इसी प्रकार लोकोक्तियों का प्रयोग भी लेखक ने इतनी कुशलता से किया है कि देखते ही बनता है। मसलन इस लंबे वाक्य में प्रयुक्त कहावतों को देखा जा सकता है : "दो एक बार **धोखा** खा के धोखेबाजों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी फुंदनी जोड़कर 'उसी की जुती उसी का सिर' कर दिखाओं तो बड़े भारी अनुभवशाली बरंच 'गुरू गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलावोगे।" इसी तरह 'नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय', मूंदि गई आँखें तब लाखें केहि काम की, 'काजल की कोठरी में रहने वाला बेदाग नहीं रह सकता', या इसी तरह सूर, तुलसी की काव्य पंक्तियों या संस्कृत पदों का प्रयोग भी मिश्रजी की भाषा की शक्ति को बढ़ाते हैं।

शब्दों के चयन में भी मिश्रजी की प्रतिभा के दर्शन होते हैं। तत्सम और तद्भव शब्दों के साथ-साथ उन्होंने बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले आरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। अगर तत्सम शब्दावली के ऐसे वाक्य हैं : 'जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं तो क्या है?' तो, बोलचाल की उर्दू वाले ऐसे वाक्य भी हैं : '**धोखा** खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीतिकुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाए तो बेईमानी कहलाती है और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।' इसी प्रकार उन्होंने देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। मसलन, पिन्न-पिन्न, ढिच्चर-ढिच्चर, खट-खट, झपकी, फुंदनी, संखिया, आदि प्रयोग इसी तरह के हैं। उनकी गद्य भाषा भारतेंदु युग की भाषा है जिसका अभी पूरा मानकीकरण नहीं हुआ है। यही कारण है कि इस निबंध में 'तो' के स्थान

पर तौ, स्वर्ण की जगह 'सुवर्ण', रखे की जगह 'रक्खे', सिर की जगह 'शिर' के प्रयोग तो मिलते ही हैं, साथ ही 'मुड़ियावें', 'बहुतेरों', 'वा', 'सुकुड़', 'होइएगा' आदि प्रयोग भी मिलते हैं। या ऐसे वाक्य जिन पर लोकभाषा का प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है : 'बस, इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियों से बचे रहिएगा।'

प्रतापनारायण मिश्र के इस निबंध में वाक्य विन्यास सभी तरह के हैं - लंबे भी और छोटे भी। आमतौर पर लंबे वाक्य हैं, लेकिन उन्हें समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। मसलन, इस वाक्य को लिया जा सकता है, 'हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है हमारे सिर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहां पर है, किंतु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देख कर सुख प्राप्त करते हैं।' ऐसे लंबे वाक्य इस निबंध में काफ़ी हैं और यह उनके लेखन की शैलीगत विशेषता है।

15.7 निबंध की शैलीगत विशेषताएँ

शैली की दृष्टि से **धोखा** निबंध को किस वर्ग में रखा जाए यह तय करना आसान नहीं है। इस निबंध में विचारप्रधान निबंध की विशेषताएँ मौजूद हैं तो दूसरी ओर इसमें भावप्रधान निबंध का प्रभाव भी देखा जा सकता है। संभव है कई इसको व्यंग्य निबंध कहना पसंद करें और कई इसे ललित निबंध। आइए, विचार करें कि **धोखा** निबंध को शैली की दृष्टि से किस वर्ग में रखा जाए। **धोखा** खाना या **धोखा** देना एक मानवीय क्रिया है। इसी **धोखा** को मिश्रजी ने निबंध का विषय बनाया है। **धोखा** शब्द पर विचार करते हुए लेखक ने इसके वैचारिक और दार्शनिक पक्षों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस निबंध की शुरूआत में ही लेखक ईश्वर और उसकी इस सृष्टि के पारस्परिक संबंधों पर विचार करने लगता है। 'शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसक तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा?' इस तरह के विचार प्रधान वाक्य निबंध में शुरू से अंत तक भरे पड़े हैं। लेकिन दूसरी ओर वह इस वैचारिकता की गंभीरता को तोड़ता भी है। 'बहुत ज्ञान छांटना सत्यानाशी की जड़ है।' जैसे वाक्य ही नहीं बल्कि 'जहाँ भरम खुल गया वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है।' या 'संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे।' वाक्य इस वैचारिक गंभीरता को तोड़ते हैं।

लेकिन इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि यह निबंध भावनात्मक निबंध है। यह ज़रूर है कि मिश्रजी की जिंदादिली और व्यंग्य विनोद की पूरी छटा निबंध में व्यक्त हुई है, लेकिन वे कहीं भी भावना के प्रवाह में बहे नहीं हैं। 'अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आंसू तथा गुरूघंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादुपूर्वक खा!' जैसे हास्य और व्यंग्य से परिपूर्ण वाक्यों और संस्कृत के श्लोकों, सूर-तुलसी की कविताओं, लोकोक्तियों और मुहावरों से सुशोभित निबंध को शैली की दृष्टि से ललित निबंध ही कहा जाना चाहिए। यह ज़रूर है कि हजारी प्रसाद द्विवेदी और उनके बाद के ललित निबंधकारों में व्यंग्य विनोद की ऐसी छटा दिखाई नहीं देती, जैसी मिश्रजी के निबंधों में है।

15.8 सारांश

एम.ए. हिंदी के चौथे पाठ्यक्रम के चौथे खंड की इस पहली और पाठ्यक्रम की पंद्रहवीं इकाई में आपने भारतेंदु युग के प्रमुख लेखक प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** के बारे में अध्ययन किया है। इकाई को पढ़ने से आपने मिश्रजी के लेखकीय व्यक्तित्व की जानकारी प्राप्त कर ली है। **ब्राह्मण** पत्रिका के संपादक रहे मिश्रजी ने गद्य और पद्य दोनों में लिखा। गद्य लेखन में

निबंधों का महत्वपूर्ण स्थान है। **धोखा** उनके द्वारा लिखा गया ऐसा निबंध है जिसमें भारतेंदु युग के निबंध लेखन की प्रायः सभी विशेषताएँ दिखाई देती हैं।

धोखा शब्द की विवेचना के माध्यम से मिश्रजी ने निबंध में ईश्वर संबंधी अवधारणा, जगत को भ्रम समझना और धोखे के सामाजिक और वैयक्तिक प्रभावों पर विचार किया गया है। इस विचार की इकाई में विवेचना की गई है।

इस इकाई में प्रतापनारायण मिश्र के लेखकीय व्यक्तित्व के निबंध पर प्रभाव पर भी विचार किया है। मिश्रजी के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ है : विवेकपूर्ण समझ, विद्वता और व्यापक ज्ञान, ज़िंदादिली और हास्य व्यंग्य की क्षमता, देश और समाज के प्रति गहरी भक्ति। ये सभी विशेषताएँ उनके इस निबंध में व्यक्त हुई हैं।

इकाई में निबंध के प्रतिपाद्य पर भी विचार किया गया है। निबंध में मुख्य बल उन विचारों का विरोध करना है जो लोगों को अकर्मण्य और समाजविमुख बनाती है। जो व्यक्ति को अपनी सभ्यता और संस्कृति से विलग करती है।

धोखा निबंध की भाषा पर विचार करते हुए उसकी जीवंतता, रचनात्मकता और सहजता को रेखांकित किया गया है। मिश्रजी की भाषा यद्यपि मानक भाषा नहीं है, लेकिन शब्दों, मुहावरों, कहावतों आदि के प्रयोग में उनकी लेखकीय प्रतिभा का प्रमाण मिलता है। **धोखा** निबंध की शैली के बारे में विचार करते हुए इकाई में कहा गया है कि इस निबंध की शैली पर वैचारिक निबंध और भावात्मक निबंध का प्रभाव है, लेकिन इकाई में बताया गया है कि अपनी शैली में यह ललित निबंध के अधिक नज़दीक है।

अभ्यास

1. हिंदी निबंध परंपरा के संदर्भ में प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** का मूल्यांकन कीजिए।
2. भाषा और शैली की दृष्टि से **धोखा** का सोदाहरण विवेचन कीजिए।
3. **धोखा** निबंध में व्यक्त लेखकीय विचारों का उल्लेख करते हुए निबंध का प्रतिपाद्य बताइए।

इकाई 16 निबंध : लोभ और प्रीति

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 रामचंद्र शुक्ल के भाव और मनोविकार संबंधी निबंध
16.3 **लोभ और प्रीति** का वैचारिक पक्ष
16.4 **लोभ और प्रीति** का प्रतिपाद्य
16.5 **लोभ और प्रीति** पर लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव
16.6 **लोभ और प्रीति** का संरचना शिल्प
16.7 सारांश

16.0 उद्देश्य

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मनोविकार संबंधी निबंधों में से एक **लोभ और प्रीति** को आपने पढ़ा होगा। यह इकाई इसी निबंध के बारे में है। इस इकाई में आचार्य शुक्ल के निबंधों की विशेष रूप से भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों के परिप्रेक्ष्य में विचार किया गया है।

लोभ और प्रीति ऐसे भाव हैं, जिनका संबंध मनुष्य के जीवन व्यवहार से बहुत गहरा है। इन भावों का वास्तविक अर्थ क्या है, मानव जीवन में और भिन्न-भिन्न व्यवहार क्षेत्रों में इनकी अभिव्यक्ति कैसे होती है, इस पर शुक्लजी ने गहन विचार किया है। उनके इस पक्ष पर इकाई में विस्तार से विचार किया गया है।

उक्त निबंध में व्यक्त लेखकीय विचारों का महत्व क्या है और उसके द्वारा किस तरह का लेखकीय दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है, इकाई में इस पर भी विचार किया गया है।

रामचंद्र शुक्ल के निबंध वैचारिक निबंध है, लेकिन उसमें उनके हृदयगत भावनाओं की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस निबंध में लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव किस रूप में दिखाई देता है, इकाई में इस पर भी विचार किया गया है।

लोभ और प्रीति निबंध की भाषिक विशेषताओं पर भी इकाई में विचार किया गया है। साथ ही, निबंध की शैलीगत विशेषताओं को भी रेखांकित किया गया है।

इकाई के अध्ययन से आपको **लोभ और प्रीति** को समझने में मदद मिलेगी।

16.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के चौथे खंड की यह दूसरी इकाई है और पाठ्यक्रम की यह सोलहवीं इकाई है। इस इकाई में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध **लोभ और प्रीति** पर विचार किया गया है। इससे पहले की इकाई में आपने भारतेंदु युग के यशस्वी लेखक प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** के बारे में पढ़ा था। **धोखा** निबंध की भाषा और शैली और शुक्लजी के निबंध की भाषा और शैली में आपको अंतर साफ़ तौर पर महसूस हुआ होगा। यह अंतर दो लेखकों के बीच का अंतर नहीं है, वरन् दो युगों का अंतर है। भारतेंदु युग में हिंदी गद्य की शुरुआत हुई थी। निबंध का कोई परिनिष्ठित स्वरूप निर्मित नहीं हुआ था। लेकिन शुक्लजी के समय तक हिंदी का गद्य और विशेष रूप से निबंध साहित्य काफी परिपक्व हो गया था। अब ज्यादा गंभीर विषयों पर निबंध लिखे जा सकते थे। शुक्लजी

का **लोभ और प्रीति** निबंध इस बात का प्रमाण है कि विषयवस्तु और भाषा-शैली दोनों दृष्टियों से हिंदी निबंध प्रौढ़ रूप ले चुका था। शुक्लजी ने निबंधों की भाषा का ही संस्कार नहीं किया था, उन्होंने उसकी शैली में भी नये प्रयोग किये थे। शुक्लजी ने निबंधों के लिए ज्यादा गंभीर विषयों को चुना जिनमें उनकी विद्वता का स्पष्ट प्रमाण मिलता था। **लोभ और प्रीति** पर विचार करते हुए शुक्लजी के वैयक्तिक योगदान के साथ-साथ गद्य साहित्य के विकास की पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखना होगा। **लोभ और प्रीति** पर इकाई के अध्ययन से पूर्व आप निबंध को ज़रूर पढ़ें।

16.2 रामचंद्र शुक्ल के भाव और मनोविकार संबंधी निबंध

पं. रामचंद्र शुक्ल हिंदी के श्रेष्ठ निबंधकार हैं। पं. रामचंद्र शुक्ल के निबंधों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं, (अ) प्रारंभिक निबंध, (ब) प्रौढ़ावस्था के निबंध। उनके प्रारंभिक, निबंधों में, 'साहित्य', 'भाषा की शक्ति', 'उपन्यास', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी' तथा 'मित्रता', विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके प्रौढ़ावस्था के निबंधों को भी दो कोटियों में रखा जा सकता है : (1) भाव और मनोविकार संबंधी निबंध, (2) समीक्षात्मक निबंध। उनके समीक्षात्मक निबंधा भी दो प्रकार के हैं : (क) सैद्धांतिक समीक्षा से सम्बद्ध निबंध, (ख) व्यावहारिक समीक्षा से सम्बद्ध निबंध।

भाव और मनोविकारों पर लिखे गए निबंध, शुद्ध मनोवैज्ञानिक निबंध नहीं हैं। उसके दो कारण है - एक तो इनका प्रतिपादन विशुद्ध मनोवैज्ञानिक सिद्धांत-शास्त्र के आधार पर न होकर लोक-व्यवहार के आधार पर किया गया है तथा दूसरे ये सभी निबंध काव्यशास्त्रीय सीमा के भीतर आते हैं। एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह भी हैं कि इन निबंधों में अधिकांश उद्धरण - उदाहरण साहित्यिक ग्रंथों से दिए गए हैं और इनका विवेचन सामान्य लोक के लिए किया गया है। इन निबंधों में शुक्लजी की दृष्टि प्रधान रूप से काव्यगत एवं जीवनगत स्थितियों को रेखांकित करने पर रही है। आ. रामचंद्र शुक्ल के निबंधों में विचारों का बाहुल्य है। शुक्लजी ने भाव और मनोविकार को केंद्र में रखकर दस निबंध लिखे हैं। इन निबंधों के शीर्षक हैं - (1) भाव या मनोविकार, (2) उत्साह, (3) श्रद्धा-भक्ति, (3) करूणा, (5) लज्जा और ग्लानि, (6) **लोभ और प्रीति**, (7) घृणा, (8) ईर्ष्या, (9) भय और (10) क्रोध। ये समस्त निबंध 'चिंतामणि, प्रथम भाग' में संगृहीत हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के ये निबंध न तो नितांत बौद्धिक हैं और न नितांत भावात्मक। 'चिंतामणि-भाग एक' की भूमिका में शुक्लजी ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि - "इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर।" इस कथन से यह तो स्पष्ट होता ही है कि इन निबंधों मे मूलतः बुद्धि तत्व की प्रबलता है। इसी कारण शुक्लजी की एक विशेष आलोचनात्मक प्रविधि इन निबंधों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। यह प्रविधि है - भाव या मनोविकारों के संबंध में विचार-विमर्श करना, उनकी परिभाषा देना, वर्गीकरण करना, दो मिलते-जुलते मनोविकारों में सूक्ष्म भेद बताना, उनके नैतिक और व्यावहारिक पक्षों का विश्लेषण करना, उनके विषय और लक्ष्य को स्पष्ट करना, उनका संबंध बुद्धि और चेतना की विकसित और अविकसित अवस्था से जोड़ना, उनके मनोविज्ञान को स्पष्ट करना, उनके काव्यगत और लोकगत स्वरूप की मीमांसा करना, उनके आलम्बनत्व पर व्यापक विचार-विमर्श करना तथा शील और सात्विकता के स्थापन में उनकी भूमिका पर विचार करना। भाव और मनोविकारों पर ऐसा निर्णय देना जो सर्वमान्य हो, संभव नहीं है। इस प्रकार के निबंधों में बुद्धि-तत्व की प्रमुखता तो है ही, पर शुक्लजी का कथन है कि इनमें हृदय तत्व भी जुड़ा हुआ है। इन निबंधों में शुक्लजी द्वारा दी गई परिभाषाएँ और वर्गीकरण मनोविज्ञान से पूर्णतः अलग नहीं है किंतु जब शुक्लजी भिन्न-भिन्न मनोविकारों पर विचार करते हैं तो उनका मौलिक चिंतन निश्चित रूप से अपनी छाप छोड़ता है। उदाहरण के लिए शुक्लजी के निबंध 'करूणा' का परीक्षण करें तो यह तथ्य सामने आता है कि, उन्होंने

करूणा के उद्‌भव का कारण और उसका दुखवर्ग में होना तो मनोवैज्ञानिक आधार पर बताया है, किंतु करूणा के संदर्भ में बाकी मीमांसा, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक क्षेत्रों को दृष्टि में रखकर की है। साहित्य का आधार इस निबंध में केवल एक तथ्य को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। वह यह है कि, प्रियजनों के सुख का अनिश्चय भी करूणा के उद्रेक का एक कारण होता है।

शुक्लजी ने इन निबंधों में हृदयगत अनुभूतियों की दृष्टि से भी विचार किया है। शुक्लजी की सहृदयता का विनियोग भाव तथा मनोविकार संबंधी निबंधों को सहजता और मानवीय संबंधों के संदर्भ में सार्थकता प्रदान करने वाला है। मनोभावों का संबंध विषय बोध से है। संसार के अनेकानेक विषय हमारे मन को आकर्षित करते हैं। जो रूप, गति या स्थिति हमें आकर्षित करने में समर्थ होती है, उससे हृदय स्निग्ध हो जाता है, मन रमने लगता है। इस स्थिति में शुक्लजी का आचार्यत्व एक सहृदय भावुक का स्वरूप धारण कर लेता है और उनकी शैली में एक आवेग झिलमिलाने लगता है। **लोभ और प्रीति** निबंध का एक उद्धरण इस संदर्भ में द्रष्टव्य है। यह प्रसंग सीता और राम के मर्यादित प्रेम से सम्बद्ध है। यथा - 'उनका प्रेम जीवन-यात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलाने वाला है, उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भराने वाला नहीं, उसके प्रभाव से वनचर्या में एक अद्‌भुत रमणीयता आ गई है। सारे कटीले पथ प्रसूनमय हो गए हैं, सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है। कोमलांगी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कंधों के ऊपर निकली हई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही है। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है। राम कुछ मुसकराकर एक बार प्रेम भरी-दृष्टि से सीता की और देखते हैं फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीर दर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा।'

भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। प्रश्न उठता है कि ये निबंध विषय प्रधान है या व्यक्ति प्रधान। इन निबंधों के संदर्भ में शुक्लजी कहते हैं कि - 'इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबंध विषय-प्रधान है या व्यक्ति प्रधान।' विषय प्रधान निबंध में प्रारंभ से अंत तक विषय को ही स्पष्ट करना और उस पर ही मूलतः केंद्रित होना, रहता है। यहाँ विषय की स्पष्टता ही प्रतिपाद्य है। इस प्रकार के निबंधों में आत्म-अभिव्यक्ति का स्थान नगण्य है। विषय प्रधान निबंधों में विषय के स्वरूप, विषय के संदर्भ में सम्पूर्ण जानकारी, आदि को क्रमबद्ध और युक्तिपूर्ण रूप से प्रस्तुत किया जाता है। इसके विपरीत व्यक्ति-प्रधान निबंधों में विषय गौण हो जाता है और लेखक की निजी भंगिमा और उसकी भावात्मकता प्रमुख हो जाती है। यह भावात्मकता कभी-कभी भावाकुलता भी बन जाती है। ऐसे निबंधों में तथ्य के स्थान पर लेखक की अनुभूति और अनुभव की ही प्रमुखता होती है। ऐसे निबंधों में रचनाकार के व्यक्तित्व की निश्छल अभिव्यंजना का प्रमुख स्थान रहता है। शुक्लजी द्वारा लिखित इन निबंधों में विषय प्रधान और व्यक्ति प्रधान निबंधों की विशेषताओं का अभूतपूर्व समन्वय है। विषय का सांगोपांग विवेचन, तर्क, युक्ति और उद्धरणों से विषय की पुष्टि, तथा विषय निवेचन की क्रमबद्धता के साथ ही शुक्लजी की गंभीरता, लोक मांगलिक दृष्टि, निजी सौंदर्य-भावना, अमोध व्यंग्य शक्ति और सहृदयता का अद्‌भुत समावेश इन निबंधों को एक विशेष कोटि प्रदान करता है। शुक्लजी की निबंध रचना का अपना आदर्श है। मनोविकारों पर लिखते समय उन्होंने मनोविज्ञान का आधार तो ग्रहण किया है पर मनोविज्ञान के व्यापक सिद्धांतों को अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्ति के अनुरूप ढाल कर ही निबंधों में प्रयुक्त किया है। इसी कारण वे विषय का प्रतिपादन, कहीं मनोविज्ञान, कहीं नीतिशास्त्र, कहीं साहित्य, और कहीं लोकानुभूति के बहुविध वैचारिक संबंध - सूत्रों के आधार पर स्वच्छंद गति से करते हैं। इसीलिए हम यह कह सकते हैं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इन निबंधों में विषय और व्यक्तित्व दोनों का गूढ़ सामंजस्य व्यंजित होता है।

16.3 'लोभ और प्रीति' का वैचारिक पक्ष

लोभ और प्रीति निबंध में शुक्लजी के विचारों की श्रृंखला परिलक्षित होती है। इस निबंध के प्रारंभ में वे लोभ की परिभाषा देकर उसे स्पष्ट करते हैं। यथा - 'किसी प्रकार का सुख या आनंद देने वाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही, प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं।' इस परिभाषा में मुख्य रूप से चार बिंदु हमारे सामने आते हैं। (1) लोभ का संबंध किसी वस्तु से है जो सुख या आनंद देने वाली हो। (2) लोभ एक मनःस्थिति है, (3) यह स्थिति लोभ से संबंधित वस्तु के अभाव की भावना से जुड़ी हुई है, और (4) इस अभाव की भावना से उस वस्तु की प्राप्ति, अपने निकट रखने की या उसकी रक्षा करने की प्रबल इच्छा जगती है। इस प्रबल इच्छा का जागना ही लोभ है। इस परिभाषा को प्रस्तुत करने के पश्चात् वे प्रीति या प्रेम की परिभाषा करते हैं - 'विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं।' प्रीति और लोभ का अंतर स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं : 'लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख ' अर्थात् लोभ किसी भी वस्तु जैसे धन, ज़मीन, सम्पत्ति आदि से हो सकता है किंतु प्रेम किसी एक या विशिष्ट के साथ ही होता है। इसी का विस्तार करते हुए वे कहते हैं कि - जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जाएगा, हमारी वृत्ति एकनिष्ठ हो जाएगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे।' स्पष्ट है कि व्यक्ति का एक के प्रति लगाव हो जाना ही प्रेम है।

लोभ का एक रूप अच्छा लगना है पर अच्छा लगना मात्र लोभ नहीं है। वस्तुतः लोभ की सीमा जब आगे बढ़कर, जो वस्तु अच्छी लगती है उसे 'प्राप्त करने', 'दूर न करने', 'नष्ट न होने देने ' की प्रबल इच्छा होगी तभी उसे लोभ कहा जाएगा। शुक्लजी एक उदाहरण के द्वारा अपनी बात स्पष्ट करते हैं। वे एक चौबेजी का उदाहरण देते हैं जिन्हें पेड़े खाने में रुचि है पर चौबेजी आवश्यकता से अधिक पेड़े पेट में ठूँस लेते हैं। उनकी यह अभिरुचि भी लोभ ही है।

शुक्लजी की पद्धति वर्गीकरण पद्धति है। इसलिए वे प्रिय या अच्छी लगने वाली इच्छा के दो भेद करते हैं : (1) प्राप्ति या सान्निध्य (पास रखना) की इच्छा। (2) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। वे प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा के दो भेद करते हैं। (1) इतने सम्पर्क की इच्छा जितनी और किसी की न हो। (2) इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों। शुक्लजी इन सबका विस्तार से विवेचन करते हैं और निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि - 'दोनों अवस्थाओं में लोभ का लक्ष्य एक होने पर लोभी एक दूसरे को व्याकुल करते हैं।' शुक्लजी लोभ के विषय के आधार पर दो भेद करते हैं। एक सामान्य और दूसरा विशेष। अच्छा कपड़ा अच्छा खाना सामान्य विषय है ऐसे लोभ को रुचि कह सकते हैं, धन संग्रह की अत्यधिक कामना लोभ का विशेष विषय है।

शुक्लजी इस निबंध में जहाँ एक ओर विषय को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं, वहीं दूसरी ओर इन प्रवृत्तियों का निदर्शन सामाजिक दृष्टि से भी करते हैं। इस दृष्टि से विवेचना करते समय शुक्लजी हास-परिहास और व्यंग्य को समाहित करते चलते है।। धन के संदर्भ में लोभ पर विचार करते हुए वे कहते हैं - 'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमय हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए, धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थी वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगी।' इतना ही नहीं वे आगे लिखते हैं कि : 'राजधर्म, आचार्य धर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्य क्षेत्रों में करा देने से, ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिग्धर्म रह गया।' इसका सीधा अर्थ है कि आज की सामाजिकता का, राजनीति का, पूजा अर्चना का और तमाम महत्वपूर्ण बातों का दारोमदार केवल धन पर आश्रित होकर रह गया है। यहाँ तक कि खरीद फ़रोख्त ही सामाजिकता, धर्म, राजनीति आदि का प्रमुख लक्ष्य रह गया है। शुक्लजी के निबंध **लोभ और प्रीति** में लोकोन्मुखी चेतना स्थान-स्थान पर है। वे

लोभियों के परिप्रेक्ष्य में करारा व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि - 'मोटे आदमियों! तुम ज़रा-सा दुबले हो जाते - अपने अँदेशे से ही सही - तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।' यह व्यंग्य सामाजिक शोषण से सम्बद्ध है। यदि पूँजीवादी प्रवृत्ति में कमी आ जाए तो गरीबी दूर करने में देरी नहीं लगेगी। यही इसका तात्पर्य है।

देश प्रेम के संदर्भ में शुक्लजी का विचार है कि जब देश की प्रकृति, नदी, नाले, पहाड़, वृक्ष, फूल, फल, धरती आदि को देखा ही नहीं है, तब देश प्रेम की बात करना ही व्यर्थ है। शुक्लजी इस संदर्भ में अपने एक अनुभव को बतलाते हैं। जिसमें व्यंग्य विनोद के साथ देशप्रेम से उनका वास्तविक अभिप्राय भी स्पष्ट होता है। वे अपने मित्र के साथ साँची का स्तूप देखने गए। रास्ते में महुओं की टपाटप हो रही थी। शुक्लजी ने कहा, 'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।' मित्र ने नाराज़ी से कहा - 'यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे। शुक्लजी का स्पष्ट मन्तव्य है कि देशप्रेम, देश परिचय के बिना, असंभव है। लोभ के संदर्भ में शुक्लजी लिखते हैं कि 'लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी भी प्रकार कम नहीं होता है।' लोभ के कारण लोभी, मान-अपमान, काम-क्रोध सब कुछ का दमन करता है। लोभ के अंकुश से वह सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में कर लेता है। पर योगी का संयम जन-कल्याण और स्व-कल्याण के लिए होता है। लोभियो के इन्द्रिय निग्रह के बारे में तीखे व्यंग्य को उभारते हुए शुक्लजी लिखते हैं। - 'लोभियों! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!' इस कथन में यह देखना है कि शुक्लजी किन गुणों के कारण लोभी को धन्य कहते हैं और किन अवगुणों के कारण उसे धिक्कारते हैं। वे अक्रोध, मानापमान समता, इन्द्रिय निग्रह के संदर्भ में लोभी को धन्य कहते हैं और निष्ठुरता, निलर्ज्जता,अविवेक और अन्याय के लिए वे उसे धिक्कारते हैं। इन पंक्तियों के माध्यम से वे तपस्वी और लोभी का अंतर भी स्पष्ट कर देते हैं। शुक्लजी का विचारक खुली आँखों से देखता है और खुलेपन से विचार करता है।

प्रेम के संदर्भ में भी शुक्लजी ने विशद विचार अभिव्यक्त किए हैं। वे लोभ और प्रेम की भेदक रेखाओं को विस्तार के साथ स्पष्ट करते हैं। देश प्रेम पर विचार करते हुए शुक्लजी मानते हैं कि स्थान-प्रियता देश प्रेम से जुड़ी हुई है। वे लिखते हैं - 'जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेश प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश प्रेम कोरी बकवास या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है।' इसीलिए वे मानते हैं कि जिस देश से प्रेम होगा, उसे देश के मनुष्य, पशुपक्षी, झाड़-पेड़, लता-गुल्म, पेड़-पत्ते, नदी-नद, पर्वत-ज़मीन आदि से भी निश्चित रूप से प्रेम होगा। उसे गरीब और किसान से भी प्रेम होगा। केवल आंकड़े बताकर देशप्रेम नहीं होता। देशप्रेम या 'प्रेम' के लिए 'परिचय' अनिवार्य तत्व है। शुक्लजी के अनुसार 'प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करने वाले नहीं।

देश प्रेम के संदर्भ में विचार प्रकट करने के बाद शुक्लजी यह कहते हैं कि देश-प्रेम परिचय और सान्निध्य से ही संभव है। इस सान्निध्य के मूल में निकटता की इच्छा है और यह लोभ से पैदा होती है। प्रेम के संदर्भ में भी यह निकटता की इच्छा ही मूल कारण है। अर्थात् जिनके साथ रहने का हमें अभ्यास हो जाता है उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। अधिकाधिक साथ रहने की इच्छा प्रेम जगाती है, इसीलिए शुक्लजी का विचार है कि, 'परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता।' शुक्लजी प्रिय वस्तु संबंधी इच्छा को दो भागों में बाँटते हैं। (1) अपने अधिकार में रखने की इच्छा। (2) केवल बने रहने देने की इच्छा। प्रथम इच्छा के अनुसार इसमें अनन्य उपयोग या उपभोग समाया हुआ है। दूसरी इच्छा के अंतर्गत भाव की एकता के कारण मेल की प्रवृत्ति बढ़ती है। शुक्लजी के अनुसार लोभ का एक प्रशस्त रूप भी होता है जिसमें केवल रक्षा का भाव रहता है। देश प्रेम, घर प्रेम, पुर प्रेम इसी लोभ का रूप है। इस प्रकार का लोभ मनुष्य को महान् बनाता है। शुक्लजी मौलिक चिंतक है। इसी कारण वे लोभ के श्रेष्ठ रूप की सम्पूर्ण व्याख्या करते हैं। इसी लोभ के व्यापकत्व के

कारण जिन लोगों की दृष्टि व्यापक हो जाती है वे घर प्रेम या पुर-प्रेम छोड़ देश के लिए प्राण तक न्यौछावर कर देते हैं। लोभ हो या प्रेम दोनों के मूल में सुख या आनंद की इच्छा का होना अनिवार्य है। लोभ का अर्थ प्रायः वित्त लोभ के अर्थ में सीमित हो गया है। यह धन-लोभ जघन्य है। इस लोभ के कारण अन्य प्रवृत्तियों का दमन हो जाता है। इस प्रकार के लोभ को शुक्लजी उद्धत लोभ कहते हैं।

प्रीति या प्रेम पर शुक्लजी के विचार बहुत सुलझे हुए हैं। वे मूलरूप में लोभ और प्रेम को कुछ दूर तक एक ही मानते हैं किंतु इनमें एक अंतर भी प्रतिपादित करते हैं। वे लिखते हैं कि - 'साधारणा बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे लोभ और किसी व्यक्ति की जो ललक होती है उसे प्रेम कहते हैं।' प्रेम और लोभ का अंतर स्पष्ट करते हुए वे मानते हैं कि व्यक्ति के प्रति लोभ, उस व्यक्ति का सम्पर्क बाह्य सम्पर्क ही नहीं अपितु 'हृदय सम्पर्क' भी चाहता है। मनुष्य के साथ मनुष्य का संबंध सामान्य लोभ से अधिक गूढ़, जटिल और व्यापक होता है। वस्तु-लोभ के आश्रय और आलम्बन अलग-अलग होते हैं किंतु प्रेम में आश्रय और आलम्बन का योग हो जाता है। प्रेम लोभ से अधिक गूढ़ और गहरा होता है।

शुक्लजी की मान्यता है कि प्रेमी और प्रिय दोनों के हृदय के योग से जीवन में सजीवता और आनंद का समावेश हो जाता है। संभावना के धरातल पर आनंद और दुख दोनों ही बढ़ जाते हैं। प्रेमी के हृदय का आनंद प्रिय के हृदय का आनंद हो जाता है। दोनों के हृदयानंद के मेल से प्रेमी के हृदय में सांसारिक वस्तुओं में भी कई गुना अधिक आनंद की प्रतीति होने लगती है किंतु वियोग होने पर प्रेमी या प्रिय के पास उन्हीं वस्तुओं का आनंद कम या बिल्कुल शून्य हो जाता है। इसीलिए शुक्लजी कहते हैं - 'दो हृदयों की अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव पथ का द्वार है।' इस छोटे से वाक्य में शुक्लजी बहुत बड़ी बात कह गए हैं। इसका अर्थ है कि दो हृदयों में जब प्रेम के माध्यम से अभिन्नता आ जाती है तो यह अभिन्नता जीवन की एकता तो है ही पर इससे अनुभव के नाना स्वरूप का ज्ञान भी होता है।

प्रेम के प्रभाव के क्षेत्र के संबंध में शुक्लजी का विचार है कि यह प्रभाव दो क्षेत्रों में होता है। एक व्यक्ति क्षेत्र में और दूसरा समाज क्षेत्र में। व्यक्ति क्षेत्र में प्रभाव सीमित रहता है जिसे एकांतिक कहते हैं, पर समाज या लोक-जीवन के क्षेत्र में यह प्रभाव साहस, धीरता, दृढ़ता, कष्ट सहना, आदि पर आधारित होकर कर्तव्य का व्यापक और जनहितकारी स्वरूप ग्रहण करता है। अनन्य प्रेम या एकांतिक प्रेम का क्षेत्र सामाजिक और पारिवारिक जीवन से अलग-थलग रहता है। गोपियों का प्रेम शुक्लजी के अनुसार इसी प्रकार का है। भक्तिमार्ग में प्रायः एकांतिक प्रेम ही गृहीत हुआ है। इसका कारण है इसमें विराग-साधना अपने आप हो जाती है।

एकांतिक प्रेम से भिन्न प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो लोक-जीवन से सम्बद्ध है। इसका प्रभाव जीवन यात्रा के तमाम रास्तों को मधुर और आनंददायी बना देता है। इस स्थिति में प्रेमी संसार में कर्म करता हुआ, अपने सौंदर्य की प्रतीति स्वयं भी करता है और प्रिय को भी कराना चाहता है।

इसमें कर्म का सौदर्य है। इसमें उत्साह भी है और प्रफुल्लता भी। इसमें कर्म के मध्य संघर्ष करता हुआ प्रेमी अपने कर्म-सौंदर्य को प्रिय के सामने प्रत्यक्ष करता है। शुक्लजी लिखते हैं कि मनुष्य की अंतःप्रवृत्ति में जाकर जो प्रेम का विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौंदर्यविधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्य शक्ति के रूप में हुआ है।

शुक्लजी इस निबंध में प्रेमी और प्रिय की पारस्परिक स्थिति पर भी अपने विचार प्रकट करते हैं। एक स्थिति तो वह है जहाँ प्रेम दोनों में साथ-साथ उत्पन्न होता है। दूसरी स्थिति वह है जहाँ प्रेम एक में होता है दूसरे में नहीं अर्थात् वह विषम ही रह जाता है। शुक्लजी का विचार है कि तुल्यानुराग की भी एक पद्धति दिखाई देती है। इस पद्धति में हृदय को द्रवित करना होता है। द्रवित करने के लिए दो कोमल वृत्तियाँ हैं, वे हैं करूणा, और प्रेम। इसमें एक स्थिति

दया की है। प्रेमी दया के द्वारा प्रिय के हृदय में प्रेम उत्पन्न करना चाहता है। यह प्रेम की राह की सामान्य प्रवृत्ति है। इस दया के माध्यम से सहानुभूति पैदा होती है। जब प्रीति एक पक्षीय ही रहती है, तुल्यानुराग नहीं होता, तब इस स्थिति को भारतीय आचार्य रस न मानकर रसाभास मानते हैं। प्रेम के संदर्भ में तुष्टि का होना आवश्यक है पर प्रेम का एक स्वरूप ऐसा भी होता है जहाँ प्रेमी उच्चतम सीमा तक प्रेम करता है और प्रेम की पूर्णता के स्वरूप में कोई त्रुटि नहीं रहती। शुक्लजी स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि - 'जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यंत निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है।' ऐसी स्थिति में प्रिय के लिए प्रेमी की यही भावना रहती है कि प्रिय सदा बना रहे और हमें प्रिय लगता रहे। इसके लिए सूर की गोपियों का उदाहरण देते हैं। गोपियाँ कृष्ण के लिए कहती हैं कि 'कृष्ण जहाँ-जहाँ रहें राज करें और स्नान करते समय भी उनका बाल तक न टूटे।' इस प्रकार के प्रेम में सान्निध्य की कामना का त्याग, प्रेम की रक्षा करता है और शांति प्रदान करता है। शुक्लजी का कथन है कि प्रेम काव्यों में रूप-लोभ ही प्रेम का प्रवर्तक दिखाया गया है किंतु प्रेम का कारण है - साहचर्य। साहचर्य से उत्पन्न प्रेम की यह विशेषता है कि यह प्रेम साथ-साथ रहने के कारण उपजता है और स्थायी हो जाता है और साथ-साथ रहने के बाद बिछोह के समय में भी बराबर बना रहता है।

शुक्लजी प्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह बतलाते हैं कि इसकी व्यंजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी। हँसकर जो व्यंजित होता है उसमें हर्ष-पुलक और उछलकूद होती है, रोने में निश्वास और आँसू होते हैं। प्रेम का क्षेत्र इतना विशाल है कि इसमें आनंदात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार समाहित हो जाते हैं। इसीलिए श्रृंगार रस के दो भेद हैं - एक संयोग और दूसरा वियोग।

शुक्लजी हिंदी के महान् आलोचक, चिंतक तथा निबंधकार हैं। वे किसी भी विचार को प्रकट करते समय उसकी गहराई तक जाते हैं। **लोभ और प्रीति** के विविध अंगों पर उन्होंने सूक्ष्मता और गहराई के साथ प्रकाश डाला है। **लोभ और प्रीति** निबंध में उनका व्यक्तित्व भी बराबर व्यक्त हुआ है। आगे के भाग में हम इस पक्ष पर विचार करेंगे।

16.4 'लोभ और प्रीति' का प्रतिपाद्य

निबंध के वैचारिक पक्ष का विस्तृत विवेचन पढ़ने के बाद यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि आचार्य शुक्ल इसके माध्यम से क्या कहना चाहते हैं। **लोभ और प्रीति** भावों की मनोवैज्ञानिक और व्यवहारपरक व्याख्या करना इसका उद्देश्य है, इसे समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती। लेकिन इतना ही इसका उद्देश्य नहीं है। **लोभ और प्रीति** भावों पर विचार करते हुए वे अन्य बातों पर भी अपना मत व्यक्त करते हैं। कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है कि निबंध अवान्तर बातों को स्पष्ट करने के लिए ही लिखा गया है। शुक्लजी के निबंधों में उनकी जीवन दृष्टि और विश्व दृष्टि भी व्यक्त होती है। मसलन, **लोभ और प्रीति** की बात करते हुए वे देश प्रेम पर भी विस्तार से विचार करते हैं। देश प्रेम पर यह विचार हमें इस बात को स्पष्ट करने से नहीं रोकता कि निबंध में यह विषय अनायास ही नहीं आ गया है वरन् लेखक सोद्देश्य इसकी चर्चा कर रहा है।

इसी प्रकार प्रीति की व्याख्या करते हुए वे प्रेम के विभिन्न रूपों और स्तरों की व्याख्या करते हैं। भक्ति काव्य का उदाहरण देकर वे उस प्रेम की श्रेष्ठता बताते हैं जो लोकोन्मुख हो। स्वयं शुक्लजी के शब्दों में, उस एकान्तिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार बंद कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज़ मरीज़ को एक कोठरी में डाल देता है, हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो एक संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन पथ को रमणीय और सुंदर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता को हटाकर उसमें सरसता ला दे, वह प्रेम धन्य है।' जीवन के प्रति अनुराग, कर्म

पर बल और स्वदेश के प्रति प्रेम इन बातों को यदि एक साथ मिलाकर देखें तो हमें निबंध के उद्देश्य को समझने में कठिनाई नहीं होगी।

लोभ और प्रीति के मनोभावों द्वारा वे जीवन और जगत् के प्रति एक सकारात्मक और विवेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करना चाहते हैं। ऐसा दृष्टिकोण जो इन मनोभावों को असंयमित न होने दे और जो लोगों को कर्म की ओर प्रेरित करे। मनोभावों की जीवन में अहम् भूमिका होती है, लेकिन उनमें संतुलन भी होना ज़रूरी है। इस निबंध में शुक्लजी इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, 'पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिए बहुत कम स्थान रह जाता है।' इस दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि शुक्लजी की दृष्टि में सभी मनोविकारों की जीवन में थोड़ी-बहुत सकारात्मक भूमिका ज़रूर होती है। प्रीति को तो आमतौर पर सकारात्मक माना ही जाता है, लेकिन लोभ भी जीवन में अच्छी भूमिका निभा सकता है। यही नहीं लोभ का सकारात्मक पक्ष ही उसे प्रेम के रूप में परिणत करता है।

शुक्लजी का यह मानना है कि जीवन और जगत के प्रति हमारे मन में किसी तरह का आकर्षण नहीं होगा तो हममें स्वदेश के प्रति भी प्रेम जागृत नहीं होगा। प्रकृति के प्रति प्रेम, स्थान के प्रति प्रेम, वस्तुओं के प्रति प्रेम और लोगों के प्रति प्रेम के होने पर ही इंसान में अपने देश के प्रति प्रेम जागृत होता है। इसी प्रक्रिया में प्रेम मनुष्य को सक्रिय बनाता है। उसे कर्मशील बनाता है। यहाँ कर्म पर शुक्लजी का इतना बल देना इसीलिए है क्योंकि उस युग में भारत पराधीन था। देश को पराधीनता से मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती थी, जब लोगों में न सिर्फ स्वदेश के प्रति प्रेम हो बल्कि वह प्रेम उन्हें सक्रिय भी करे। यह सक्रियता पराधीनता के विरुद्ध जन संघर्ष में भागीदारी के रूप में ही सामने आ सकती है।

इसी संदर्भ में शुक्लजी उस लोभ की चर्चा करते हैं जिसके पनपने को वे उपयुक्त नहीं मानते। हमारा तात्पर्य धन के प्रति लोभ से है और जिसे वे अन्य स्थान पर व्यापारी प्रवृत्ति के बढ़ने के रूप में रेखांकित करते हैं। धन के प्रति लोभ को वे न तो व्यक्ति के लिए और न समाज के लिए हितकर मानते हैं। इसी बात को वे इस रूप में भी कहते हैं कि क्षात्र धर्म का ह्रास देश और समाज के लिए अनिष्टकारी है। इस प्रकार शुक्लजी **लोभ और प्रीति** निबंध के माध्यम से निबंध विधा में अपनी रचनात्मक कौशलता का ही परिचय नहीं देते बल्कि औपनिवेशिक पराधीनता के तत्कालीन दौर में लोगों के मन में स्वदेश प्रेम की भावना भरते हैं और इस दिशा में प्रयत्न करने के लिए भी प्रेरित करते हैं।

16.5 'लोभ और प्रीति' पर लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव

रामचंद्र शुक्ल के निबंध विचार प्रधान हैं, लेकिन उनमें उनके व्यक्तित्व का प्रभाव हमें कदम-कदम पर दिखाई देता है। शुक्लजी सिर्फ साहित्य में रुचि रखने वाले लेखक नहीं थे बल्कि समाज, देश और संपूर्ण मानव जाति की गतिविधियों में उनकी गहरी रुचि थी। यही कारण है कि अपने निबंधों में इस पहलू को व्यक्त करने का जब भी उन्हें अवसर मिलता है तो उसका पूरा इस्तेमाल करते हैं। लोभ पर विचार करते हुए वे समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता पर टिप्पणी करते हैं, तो प्रीति पर विचार करते हुए देश-प्रेम पर। तब ही उनकी कलम से ऐसी पंक्तियाँ निकलती हैं : 'मोटे आदमियों। तुम जरा-सा दुबले हो जाते अपने अंदेशे से ही सही - तो न जाने कितनी ठटरियों पर मांस चढ़ जाता।' यह एक सामान्य कथन नहीं है वरन् इसमें उनका समाज में व्याप्त विषमता के प्रति आक्रोश भी व्यक्त हुआ है। यही कारण है कि उनके कथन में व्यंग्य की चुभन महसूस की जा सकती है।

देश-प्रेम पर विचार करते हुए वे उसे मूर्त प्रेम के रूप में प्रस्तुत करते हैं, न कि वायवी रूप में ही। यही कारण है कि वे ऐसे देश-प्रेम को देश प्रेम नहीं मानते जो देश की धरती, प्रकृति और

लोगों के प्रति प्रेम के रूप में व्यक्त न हो। यही कारण है कि वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि 'जन्म भूमि का प्रेम, स्वदेश प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश-प्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपन देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु-पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध कर के वह विदेशों में आँसू बहायेगा।' देश-प्रेम की यह चर्चा मनोविकार संबंधी निबंध में अनपेक्षित नहीं है। औपनिवेशिक दासता के उस दौर में देश प्रेम के महत्व और उसके वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करके वे अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय आंदोलन के वैचारिक पक्ष को बल प्रदान कर रहे थे।

देश प्रेम का यह उल्लेख शुक्लजी की राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति है। लेकिन वे अंध राष्ट्रवादी भी नहीं थे। इसीलिए इसी निबंध में वे पूंजीवादी राजनीति की आलोचना भी करते हैं। वे लिखते हैं, 'व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अंग हो गई। बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर हो गए।... अब सदा एक देश दूसरे देशों पर चुपचाप दबे पाँव धन हरण करन की ताक में लगा रहता है। इसी से भिन्न-भिन्न राज्यों की परस्पर संबंध समस्या इतनी जटिल हो गई है। कोई-कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शांति न होगी।' पूंजीवादी व्यवस्थाओं की इस केंद्रीय प्रकृति को शुक्लजी ने बिल्कुल सही पहचाना है। यह कथन उनके राजनीतिक अर्थव्यवस्था की गहरी समझ का भी द्योतक है।

शुक्लजी का प्रकृति के प्रति गहरा लगाव था। देश प्रेम की चर्चा के दौरान हम यह देख चुके हैं कि वे देश की प्रकृति से प्रेम को देश प्रेम के लिए अनिवार्य मानते हैं। यही नहीं वे उन शहरी लोगों पर व्यंग्य भी करते हैं जो प्रकृति के प्रति लगाव को पिछड़ेपन की निशानी समझते हैं।

शुक्लजी के लेखन में जहाँ हमें उनकी विद्वता और विवेकशीलता का परिचय मिलता है, वहीं आवश्यकता पड़ने पर व्यंग्य का भी अत्यंत जीवंत प्रयोग करते हैं। ऐसे ही व्यंग्य का एक उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। व्यंग्य के साथ-साथ अपनी बात के समर्थन में वे जीवन के अनुभवों और पुस्तकों से उदाहरण भी देते हैं। इससे उनका लेखन बोझिल नहीं होता। बात को जीवंत बनाकर पेश करने का यह तरीका इस बात का प्रमाण है कि वे शुष्क और गंभीर आलोचक नहीं वरन् सहृदय रचनाकार भी हैं। उनके व्यक्तित्व का यह प्रभाव ही उनके निबंधों को रचनात्मक बनाता है।

जीवन और जगत के प्रति गहरा लगाव शुक्लजी के प्रत्येक लेखन में बराबर अभिव्यक्त हुआ है। इस कारण वे जीवन की मामूली सी दिखने वाली गतिविधियों का भी सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं और अपनी बात व्याख्यायित करने के लिए वे उनका सटीक उपयोग भी कर लेते हैं। उदाहरण के लिए निबंध के इस अंश को देख सकते हैं। :

> 'भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि चौबेजी को मिष्ठान्न से अधिक रुचि है। यह अभिरुचि भी लोभ की चेष्टाएँ उत्पन्न करती हैं।'

लोभ और प्रीति निबंध को पढ़ने पर हमें शुक्लजी के व्यक्तित्व की इन विशेषताओं का प्रमाण बराबर मिलता है। विद्वता, विवेकशीलता, ज़िंदादिली, जीवन और जगत के प्रति गहरा लगाव, देश प्रेम, प्रकृति प्रेम ये कुछ विशेषताएँ हैं जिनसे हम शुक्लजी के व्यक्तित्व की पहचान कर सकते हैं और जिसका प्रभाव हम इस निबंध पर भी देखते हैं।

16.6 'लोभ और प्रीति' का संरचना शिल्प

भावों और मनोविकारों पर विचार करने की शुक्लजी की अपनी विशिष्ट विवेचन और विश्लेषण पद्धति है। वे निबंध में जिस विषय को उठाते हैं, सबसे पहले उसकी परिभाषा देकर विषय को स्पष्ट करते हैं और उसकी दूसरे विषयों से तुलना करते हैं ताकि मूल विषय को अच्छी तरह समझा जा सके। उनमें विषय के वर्गीकरण और विश्लेषण की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है, साथ ही निबंध में वे आत्मभिव्यक्ति का समावेश करते हैं। जहाँ आवश्यकता होती है, वहाँ अपनी बात को प्रभावशाली बनाने के लिए व्यंग्य का सार्थक प्रयोग करते हैं। उनके निबंधों में समास और व्यास शैलियों का प्रयोग इसी दृष्टि से किया गया है।

पं. रामचंद्र शुक्ल की विवेचन और विश्लेषण की स्वतंत्र प्रविधि है। वे परिभाषा, वर्गीकरण, व्याख्या, वैयक्तिक संस्पर्श और व्यंग्य के माध्यम से विषय को विस्तार के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनकी अपनी दृष्टि लोक-मंगलवादी है। शुक्लजी सूत्र देते हैं फिर उसकी विस्तृत व्याख्या करते हैं जिसमें उद्धरण और उदाहरणों का प्रचुर समावेश होता है। उनकी निजता उनके निबंधों का मूल है। शुक्लजी की भाषा टकसाली हिंदी है, जिसमें संस्कृत, उर्दू और लोकभाषा का सहज समावेश होता है। उनके भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों का आधार मनोविज्ञान है। किंतु शुक्लजी निबंध में मनोविज्ञान से यथोचित सामग्री को स्थान देकर, उसका विश्लेषण लोकदृष्टि से करते है। वे लोकमंगल की भावना के पक्षधर हैं। शास्त्रीय विषय लेकर भी वे उसको व्यापक रूप में साहित्य की अवधारणाओं के माध्यम से संप्रेषित करते हैं।

उनके निबंधों में शास्त्रीयता, अनुभव और व्यंग्य-विनोद का अनुपम समन्वय है। उनका शिल्प व्यास और समास शैली का समन्वय है। उनका चिंतन भारतीय अवधारणा के अनुकूल समन्वयधर्मी चिंतन है। शुक्लजी विषय की गहराई तक पहुँचते हैं और फिर अपने लेखन को शास्त्र, अनुभव और व्यंग्य-विनोद के माध्यम से भाषा के कलेवर में प्रस्तुत करते हैं। शास्त्र उन्हें परिभाषा, वर्गीकरण और व्याख्या प्रदान करता है, अनुभव उन्हें लोकमंगल की अवधारणा प्रदान करता है और चिंतन मनन उनके निबंधों को मूल्य प्रदान करता है तथा उनकी वैयक्तिकता और व्यंग्य-विनोद उनके निबंध को ग्राह्य और सरस बनाते हैं।

शुक्लजी का वैयक्तिक संस्पर्श अर्थ से इति तक निबंधों में परिव्याप्त है। **लोभ और प्रीति** निबंध के संदर्भ में जब हम इस बिंदु पर विचार करते हैं कि उनका यह स्पर्श यदा-कदा उनके भावुक विवरणों में अथवा लोकमंगल की भावनाओं में दिखाई पड़ता है। लोकमंगल की भावनाओं के साथ वे प्रायः व्यंग्य-विनोद का आश्रय लेते हैं। उदाहरण के लिए, देश-प्रेम को व्याख्यायित करते हुए, प्रकृति के प्रति अनुराग को अभिव्यक्त करते हैं। यह बात हम पहले भी लिख चुके हैं।

शुक्लजी के निबंधों में वैयक्तिक स्पर्श जहाँ एक ओर गुरू गंभीर विषय को रोचकता प्रदान करता है वहीं तद्युगीन स्थितियों से आमना-सामना भी कराता है। शुक्लजी के निबंध गंभीर निबंध है और पूरी गंभीरता से उनकी संरचना की गई है किंतु ये शुष्क नहीं है, शुक्लजी का वैयक्तिक संस्पर्श इन निबंधों को शुष्क होने से बचाता है और रमणीयता प्रदान करता है। यह संस्पर्श भाषा को प्रवाह देता है और भावक को झकझोरता है। संभवतः ज्ञान प्राप्ति के साथ-साथ विचारों की उत्तेजना प्रदान करना इन निबंधों का लक्ष्य है और शुक्लजी के निबंध इस लक्ष्य की सिद्धि करने में समर्थ हैं।

शुक्लजी के यहाँ व्यंग्य विनोद का प्रयोग सप्रयोजन है। व्यंग्य विनोद से पाठक को गंभीरता के बीच एक सुखद अनुभव की प्रतीति होती है। यह सुखद प्रतीति केवल सुखद ही नहीं रहती है, यह तद्युगीन दशा-दिशा को भी प्रस्तुत करती है। यह दशा-दिशा पाठक को जीवन दिशा का ज्ञान कराती है, कर्म के लिए प्रेरित करती है, एक उत्तेजना प्रदान करती है और खिलखिलाहट से भर देती है।

पं. रामचंद्र शुक्ल जैसे निबंधकार संसार की किसी भी भाषा के लिए गौरव है। उनके निबंधों में विवेचना और सर्जना का समन्वय है। आत्माभिव्यक्ति तथा व्यंग्य-विनोद इनके निबंधों को हल्का-फुल्का नहीं बनाते, वरन् पाठक का भावक की आँख में उंगली गड़ा कर सत्य का निदर्शन कराते हैं। वे रुचि भी जाग्रत करते हैं और चिंतन को भी गति प्रदान करते हैं। हिंदी जगत को जो अनुदान शुक्लजी ने दिया वह अतुलनीय है।

16.7 सारांश

एम.हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के चौथे खंड की दूसरी इकाई और पाठ्यक्रम की सोलहवीं इकाई का आपने अध्ययन किया है। यह इकाई आचार्य रामचंद्र शुक्ल के भाव और मनोविकार संबंधी निबंध **लोभ और प्रीति** पर आधारित है। इकाई का अध्ययन करने से पूर्व आपने निबंध अवश्य पढ़ा होगा।

लोभ और प्रीति पर विचार आरंभ करने से पहले इकाई में शुक्लजी के निबंधों विशेषतः भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों के बारे में बताया गया है। ये निबंध शुक्लजी ने मनोविज्ञान की दृष्टि से ही नहीं लिखे हैं बल्कि लोक व्यवहार में इनका जो स्वरूप मिलता है, उस पर विचार किया गया है। लोक व्यवहार पर बल होने के कारण निबंध शास्त्रीय गंभीरता से शुष्क नहीं हुए हैं। **लोभ और प्रीति** पर भी यह बात लागू होती है।

लोभ और प्रीति में इन दोनों मनोभावों का विभिन्न उद्धरणों और दृष्टांतों द्वारा विस्तृत विवेचन किया गया हे। वे आरंभ में **लोभ और प्रीति** को सूत्र रूप में परिभाषित करते हैं, बाद में उनकी व्याख्या करते हैं। लोभ पर विचार करते हुए समाज में उसके भिन्न-भिन्न रूपों की व्याख्या कस्ते हैं। वे धन के प्रति लोभ के कुप्रभावों का विवेचन करते हैं। प्रेम के ऐकांतिक रूप की बजाय लोकोन्मुखी प्रेम को श्रेष्ठ मानते हैं। **लोभ और प्रीति** पर विचार करते हुए वह स्वदेश प्रेम पर भी विस्तार से विचार कस्ते हैं और बताते हैं कि स्वदेश प्रेम का महत्व क्यों है।

इस निबंध को भी हम वैचारिक निबंध कह सकते हैं लेकिन इसका उद्देश्य **लोभ और प्रीति** की वैचारिकर व्याख्या करना ही नहीं है। इसके माध्यम से वे लोगों में जीवन और जगत के प्रति अनुराग की भावना पैदा करते हैं। कर्म-सौंदर्य की श्रेष्ठता उजागर करते हुए जीवन में कर्म के महत्व को प्रतिपादित करते हैं। स्वदेश प्रेम पर विस्तार से विचार करते हुए औपनिवेशिक पराधीनता से संघर्ष करने की अप्रत्यक्ष प्रेरणा भी देते हैं।

शुक्लजी के निबंध वैचारिक होते हुए भी उन पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप दिखाई देती है। उनकी विद्वता, विवेकशीलता, ज़िंदादिली, व्यंग्य की गहरी क्षमता, प्रकृति और देश के प्रति गहरा लगाव और जीवन-जगत के प्रति सकारात्मक सोच उनके लेखकीय व्यक्तित्व की खास विशेषता है, जिनका प्रभाव हम **लोभ और प्रीति** निबंध पर भी देख सकते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी निबंधों को उत्कर्षता के शिखर पर पहुँचाया है। उनके निबंध विचार प्रधान हैं, लेकिन जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, उसमें उनकी हृदयगत भावनाओं का भी समावेश है। वे निबंध लेखन में समास और व्यास शैली दोनों का प्रयोग करते हैं। उनकी लेखन पद्धति स्पष्ट, विवेचनपूर्ण और बोधगम्य है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वे उद्धरणों और दृष्टांतों का प्रयोग करते हैं। भाषा उनकी परिनिष्ठित, सहज और समझ में आने वाली है जिसे रचनात्मक रूप देने के लिए वे व्यंग्य, मुहावरों, लोकोक्तियों और साहित्य के अन्य उपकरणों का भी इस्तेमाल करते हैं।

इकाई को पढ़ने से आपको **लोभ और प्रीति** निबंध को समझने में अवश्य मदद मिली होगी।

अभ्यास

1. रामचंद्र शुक्ल के भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों के संदर्भ में **लोभ और प्रीति** की विशेषताएँ बताइए।
2. **लोभ और प्रीति** भावों का विवेचन करते हुए शुक्लजी की अवधारणाओं पर अपना मत प्रस्तुत कीजिए।
3. **लोभ और प्रीति** निबंध पर लेखकीय व्यक्तित्व के प्रभाव की व्याख्या कीजिए और इस निबंध की भाषा-शैली की विशेषताएँ भी बताइए।

इकाई 17 निबंध : कुटज

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 हजारी प्रसाद द्विवेदी और उनका निबंध लेखन
17.3 **कुटज** की अंतर्वस्तु
17.4 ललित निबंध के रूप में **कुटज**
17.5 **कुटज** की भाषा-शैली
17.6 सारांश

17.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के चौथे खंड की यह तीसरी इकाई है। इस इकाई में आप आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ललित निबंध **कुटज** के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं।

हिंदी निबंध परंपरा में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद सबसे महत्वपूर्ण नाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का ही है। शुक्लजी के निबंधों से भिन्न ललित निबंध की पंरपरा की शुरुआत करने और उसे श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँचाने का श्रेय उन्हें ही हैं। इस इकाई में हम द्विवेदीजी के निबंध लेखन की विशेषताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

द्विवेदीजी का प्रख्यात निबंध **कुटज** आपके पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है। **कुटज** पहाड़ों पर उगने वाला एक पौधा है। उसके गुण और सौंदर्य का वर्णन करते हुए द्विवेदीजी मानव स्वभाव और मानव जीवन के कई पहलुओं पर सार्थक टिप्पणियाँ करते हैं। इकाई में उक्त निबंध की विषयवस्तु का विवेचन करते हुए उसके प्रतिपाद्य पर भी प्रकाश डाला गया है।

कुटज ललित निबंध है और ललित निबंध की विशेषताओं के संदर्भ में इसकी विशेषताओं को भी पाठ लेखक ने उजागर किया है। ललित निबंध में भाषा और शैली का केंद्रीय महत्व होता है। इस खंड में आपने जो भी निबंध पढ़ें हैं उनसे **कुटज** की विशिष्टता की ओर आपका ध्यान ज़रूर गया होगा। इस इकाई में आप इस निबंध की भाषा और शैली की विशेषताओं का भी ज्ञान प्राप्त करेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस खंड में आप अब तक दो इकाइयाँ पढ़ चुके हैं। प्रातपनारायण मिश्र का निबंध **धोखा** और रामचंद्र शुक्ल का निबंध **लोभ और प्रीति** के संबंध में पढ़ी गई इकाइयों से आपको दो भिन्न तरह के निबंध रूपों की जानकारी प्राप्त हुई है। इस इकाई में आप द्विवेदीजी के निबंध **कुटज** के बारे में पढ़ने जा रहे हैं। **कुटज** ललित निबंध है। यह शिवालिक पर्वत श्रृंखला पर मिलने वाला अल्प परिचित पौधा है। इसी के बहाने द्विवेदीजी अपनी चिरपरिचित शैली में अपनी बात कहते चलते हैं। पढ़ते हुए आपको पहले तो यह आभास होगा कि वे सिर्फ **कुटज** की बात कर रहे हैं, लेकिन धीरे-धीरे आपको एहसास होगा कि **कुटज** तो बहाना है। वे तो मनुष्य के बारे में, उसके जीवन, उसके संघर्ष और उसके भविष्य के बारे में बात कर रहे हैं। बातचीत करने की यह शैली इतनी आत्मीय और हृदयस्पर्शी है कि हम चाहते हुए भी उसके प्रभाव से अछूते नहीं रह पाते।

ललित निबंध में लेखकीय व्यक्तित्व का जो प्रस्फुटन होता है, वैसा प्रस्फुटन किसी अन्य निबंध में नहीं होता। द्विवेदीजी के इस निबंध में उनका पांडित्य, उनकी विशाल हृदयता, उदारता, मानवतावादी दृष्टि, जिंदादिली का आभास मिलता रहता है। यद्यपि इकाई में इस पक्ष पर अलग से विचार नहीं किया गया है, लेकिन निबंध और इकाई को पढ़ते हुए आप उसकी पहचान आसानी से कर लेंगे। ललित निबंध में शैली का सौंदय हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। लेखक की रचनात्मकता का जैसा प्रमाण ललित निबंध में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। उसमें इतनी तरह की शैलियाँ और भाषा के ऐसे मनोहारी रूप की छटा दिखाई देती है कि निबंध के रस में पाठक सराबोर हो जाता है। इस निबंध में आप **कुटज** की भाषा शैली की विशेषताओं का अध्ययन करते हुए इसका प्रमाण प्राप्त करेंगे। इकाई पढ़ने से पूर्व आप निबंध अवश्य पढ़ लें अन्यथा इकाई में कही गई बातों का पूरा मंतव्य स्पष्ट नहीं होगा।

17.2 हजारी प्रसाद द्विवेदी और उनका निबंध लेखन

हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के प्रख्यात रचनाकार और आलोचक हैं। हिंदी जगत् में द्विवेदी जी की प्रतिष्ठा अन्वेषक, इतिहासकार, आलोचक, निबंधकार तथा उपन्यासकार के रूप में है। निबंध-लेखन के क्षेत्र में उनकी विशिष्ट पहचान है। वे निबंध को 'व्यक्ति की स्वाधीन चिंता की उपज' मानते हैं। द्विवेदी जी का अध्ययन व्यापक है तथा अध्ययन का यह विस्तार उनके लेखन में सर्वत्र व्याप्त है। निबंध लेखक के रूप में उनके व्यक्तित्व की छाप हर जगह दिखाई देती है। उनकी आत्म व्यंजना के विविध रूप उनके ललित निबंधों का प्राण है। 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क', 'विचार प्रवाह' और '**कुटज**' द्विवेदीजी के निबंध संग्रह हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी का लेखन सोद्देश्य है। वे साहित्य-मात्र को मनुष्य के संदर्भ में देखते हैं। द्विवेदीजी के अनुसार, 'साहित्य, वस्तुतः मनुष्य का वह उच्छलित आनंद है जो उसके अंतर में अँटाए नहीं अँट सका था।' इस आनंद का आधार वे 'एकत्व की अनुभूति' को मानते हैं। वे मानते हैं कि मनुष्य की चरम मनुष्यता - एकत्व की अनुभूति - संवेदना, के आधार पर ही संभव है। यही संवेदना ललित कलाओं का प्राण है। द्विवेदीजी मानते हैं कि, मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। वे समस्त साहित्य में मानवीय चेतना को लक्षित करते हैं। द्विवेदीजी पर रवींद्रनाथ ठाकुर की मान्यताओं का प्रभाव भी पड़ा है। द्विवेदीजी ने अपने साहित्य में जिस मनुष्य की प्रतिष्ठा की है वह सामजिक मनुष्य है।

निबंध को द्विवेदीजी व्यक्ति की स्वाधीन चिंता की उपज मानते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, 'निबंधों के व्यक्तिगत होने का अर्थ यह नहीं है कि उसमें विचार श्रृंखला न हो। ऐसा होने से तो वे प्रलाप कहे जाएँगे।'

द्विवेदीजी के अनुसार, निबंध लेखक विषय के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए वैज्ञानिक जैसी तटस्थता का पालन नहीं कर सकता है। वह अपनी 'निजता' बनाए रखता है। द्विवेदीजी के निबंधों में वार्तालाप, व्याख्यान, गप्प और स्वगत-चिंतन की विशेषताएँ समाहित हैं पर इन विशेषताओं के अतिरिक्त द्विवेदीजी की मान्यताओं में सामाजिकता, मनुष्य की असीम शक्ति और आस्था का समावेश भी है। उनके निबंधों में मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की आकांक्षा है। मनुष्य की जययात्रा के प्रति उन्हें असीम विश्वास है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, धर्म, कला एवं संस्कृति का अनुशीलन करते हुए वे बार-बार यह घोषित करते हैं कि यह सब मनुष्य को पूर्ण बनाने के साधन मात्र हैं। वे साहित्य के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए मानते हैं कि, साहित्य का लक्ष्य, मनुष्यता की सिद्धि, उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि और मंगल-विधान है।

द्विवेदी जी के ललित निबंधों में उनके व्यक्तित्व की भंगिमा, उनके मन का उच्छ्वास और उनके भीतर की आर्द्रता व्यक्त हुई है। 'अशोक के फूल', '**कुटज**', 'बसंत आ गया है' आदि निबंधों में विषय के साथ-साथ शैली की मोहकता हमें आकर्षित करती है। इस शैली में लालित्य भी है और इसके साथ ही द्विवेदी जी के सहज व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी। ऋतुओं,

पुष्पों, वृक्षों, पर्वों और स्थानों के पीछे मानव इतिहास छिपा हुआ है। इनकी चर्चा द्विवेदी जी बड़े मनोयोग से करते हैं। 'इनकी चर्चा करते हुए द्विवेदी जी कभी आर्द्र चित्त से, कभी उदास होकर, कभी विच्छल मन से, कभी क्षोभ के साथ, अतीत में, इतिहास के खंडहरों में पाठक को साथ लेकर रमने लगते हैं और पाठक कभी उनके ज्ञान से चकित होकर, कभी अतीत में खोकर,कभी उनकी व्याख्याओं और अनुमानों से तुष्ट होता हुआ अद्‌भुत आनंद का अनुभव करता है।' (डा. रामचंद्र तिवारी)। द्विवेदी जी के निबंध विचार और अनुभूति के संगम है। द्विवेदीजी का कथन है कि - 'मनुष्य थका है, पर रूका नहीं है।' द्विवेदीजी मनुष्य के गतिशील तत्वों के पारखी हैं। वे मानव-सत्य को प्रतिष्ठित करने वाले साहित्यकार हैं। उनका ज्ञान विस्तृत है। ललित निबंधों में उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन पूर्ण रूप से हुआ है।

17.3 'कुटज' की अंतर्वस्तु

'**कुटज**' ललित निबंध है। इसका केंद्र **कुटज** नाम का वृक्ष है जो पुष्पों से भरा हुआ होता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस निबंध को उनकी आत्माभिव्यक्ति के रूप में अधिक जाना जाता है। **कुटज** के माध्यम से द्विवेदीजी बहुत से महत्वपूर्ण बिंदुओं की व्यंजना करते चलते हैं। द्विवेदीजी के पास ज्ञान का भंडार है। विशेषतः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और बंगला भाषा, साहित्य पर वे अधिकार-पूर्वक लिखते रहे हैं। वे संस्कृत के तो विद्वान थे ही किंतु उनका वैशिष्ट्य ऐसा कोरा पाण्डित्य नहीं है जो शुष्क होता है। वे साहित्य की सरसता के पारखी हैं और सर्जना के क्षेत्र में वे उसका भरपूर उपयोग करते हैं। **कुटज** या 'अशोक के फूल' अथवा 'देवदारू' जैसे वृक्षों को लेकर लिखे गए निबंधों में नीरस पाण्डित्य न होकर द्विवेदीजी के ललित और उन्मुक्त भावों की प्रवाहपूर्ण भाषा में अभिव्यक्ति है। द्विवेदीजी की निजता का प्रकाशन मोहक और ज्ञानवर्धक है। **कुटज** के नाम, रूप, उत्पत्ति आदि की शास्त्रीय अवधारणाओं के प्रकाशन के साथ वे उसे जीवंत रूप में प्रस्तुत करते हैं और **कुटज** को एक नया व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। तब **कुटज** वृक्ष न होकर व्यक्ति-रूप में रूपांतरित होता हुआ प्रतीत होता है। यह रूपांतरण पाठक को जब दृष्टिगत होने लगता है तब वह भाव-विभोर होकर रसमग्न हो जाता है।

प्रारंभ में द्विवेदीजी उस स्थल विशेष को प्रस्तुत करते हैं जहाँ **कुटज** उगता है, पनपता है और पुष्पित पल्लवित होता है। यह स्थान है शिवालिक-श्रृंखला। हिमालय की निचली पहाड़ियाँ। वे शिवालिक का अर्थ बतलाते हुए लिखते हैं - 'शिवालिक' या शिव के जटाजूट का निचला हिस्सा।' 'शिव की लटियायी जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है।' यह पर्वत श्रृंखला शिव के जटाजूट के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व करती है। आगे 'हिमालय' और 'पर्वत' के वैशिष्ट्य को प्रस्तुत करते हुए वे कालिदास का स्मरण करते हुए कहते हैं : यथा - 'पूर्व और अपर समुद्र - महोदधि और आकर - दोनों को दोनों भुजाओं से थाहता हुआ हिमालय 'पृथ्वी का मानदंड' कहा जाए तो गलत क्या है।' हिमालय की शिवालिक श्रृंखला की भूमि का स्वरूप वर्णन करते हुए वे विषय की पृष्ठभूमि बताते हैं। जहाँ **कुटज** उगता है उस भूमि पर हरियाली नहीं है, दूब तक सूख गई है, काली-काली चट्टानों के बीच थोड़ी-थोड़ी रेती है। यहीं **कुटज** उगता है। द्विवेदीजी प्रश्न करते हैं - 'रस कहाँ है?' अब **कुटज** पेड़ का वर्णन देखिए - ये जो ठिगने से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खा खा कर और भूख-प्यास की निरंतर चोट सहकर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहूँ? सिर्फ जी ही नहीं रहे हैं, हँस भी रहे हैं। फिर द्विवेदीजी दो प्रश्न करते हैं - 'बेहया हैं क्या? या मस्तमौला?' प्रश्न का उत्तर पाठकों पर छोड़कर द्विवेदीजी व्यंग भी करते हैं और वस्तु का वैशिष्ट्य भी स्पष्ट करते हैं। यथा - 'कभी कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरी पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।' अर्थात् **कुटज** ऊपर से ही बेहया प्रतीत होता है पर उसकी जड़ें गहरी हैं और इस प्रश्न का कि रस कहाँ है : उत्तर है - 'पाषाण की छाती के बहुत नीचे। इस रस को ये वृक्ष जाने कहां से खींच लाते हैं, यही इनका भोग्य है। **कुटज** का स्वरूप अद्‌भुत है। ये वृक्ष इतनी कठिनाई के बीच भी मुस्कराते

रहते हैं, ये द्वंद्वातीत हैं, अलमस्त हैं। इन वृक्षों को हम नहीं जानते। न नाम, न कुल, न शील, पर लगता है ये हमें अनादि काल से जानते हैं।' द्विवेदीजी इस पहचान के बाद **कुटज** के नाम-रूप पर विस्तृत चर्चा करते हुए नाम और रूप की व्याख्या और तुलना करते हैं। बड़ा कौन है? रूप या नाम? द्विवेदीजी सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं 'नाम इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है ।' रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज सत्य।' वे बाद में अपने विषय का विशद विस्तार करते हैं। निबंध का विषय है **कुटज** किंतु वस्तु विवेचन में उनकी ज्ञान-दृष्टि है। अंततः वे घोषणा करते हैं - 'संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित, किंतु कवियों द्वारा अवमानित, यह छोटा सा शानदार वृक्ष **कुटज** है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी बहुत बड़े भाषाशास्त्री भी थे, फलतः **कुटज** शब्द की व्युत्पत्ति का भी वे नाना प्रकार से आकलन करते हैं। गिरिकूट पर उत्पन्न होने के कारण यह **कुटज** है। अर्थात् गिरिकूट पर जन्म लेने वाला। एक दूसरी व्युत्पत्ति है, **कुटज** अर्थात् जो 'कुट' से पैदा हुआ है। कुट के दो अर्थ हैं : (1) घड़ा, (2) घर। तब क्या कुट घड़े से उत्पन्न् है? घड़ा क्या गमला है? हो तो भी कुट का अर्थ इन दोनों से मेल नहीं खाता। संस्कृत में 'कुटहारिका ' और 'कुटकारिका ', 'कुटनी ', 'कुट्टन्नी ' शब्द हैं जो दासी के लिए प्रयुक्त होते हैं, इसी तरह 'कुटिया या कुटीर' शब्द भी हैं। संस्कृत में **कुटज** 'कुटच' और 'कूटज' शब्द भी मिल जाते हैं किंतु इन सबसे **कुटज** वृक्ष का अर्थ असम्बद्ध ही रह जाता है। द्विवेदीजी इसे आग्नेय भाषा परिवार का मानते हैं जो आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार का नाम होगा। अब इसे 'कोल परिवार' की भाषा कहा जाता है। हो सकता है यह शब्द इस परिवार का हो। इस शब्द का अर्थ पूरी तरह से द्विवेदीजी भी नहीं बता पाए हैं। वे इतना अवश्य मानते हैं कि -यह शब्द 'आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता।' संस्कृत में दूसरी भाषा के शब्द के प्रवेश के इस कथन के द्वारा वे संस्कृतियों के समन्वय की स्वाभाविक प्रक्रिया का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

चर्चा के बाद लेखक का सर्जनात्मक रूप फिर सामने आने लगता है। वे **कुटज** की विशेषताओं का वर्णन करते हुए पुनः ललित भाव और ललित भाषा के साथ प्रवहमान हो उठते हैं। **कुटज** की पहली विशेषता है, 'अपराजेय जीवनी शक्ति।' यह नाम-रूप दोनों में है। कितने ही नाम आए और चल गए पर संस्कृत साहित्य में यह नाम जम कर बैठा है। कालिदास को मेघ की अर्चना के लिए **कुटज** पुष्प ही तो मिले थे। नाम के साथ रूप भी अपराजेय शक्ति के साथ विद्यमान है। द्विवेदीजी के शब्दों में - 'चारों ओर कुपित यमराज के दारूण निःश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रूद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है। और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूखे गिरि कांतर में ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी शक्ति है। प्राण को प्राण पुलकित करता है, जीवनी शक्ति ही, जीवनी शक्ति को प्रेरणा देती है।' यह उद्धरण अपराज़ेय जीवनी शक्ति की पूरी-पूरी व्याख्या समर्थ भाषा में करता है। यह जीवनी-शक्ति है जो गर्म हवाओं में भी रूप को मलिन नहीं होने देती। यह जीवनी शक्ति ही है जो पत्थर को फोड़कर बहुत गहराई से रस निकाल लाती है और तमाम विपदाओं और कठिनाइयों के बीच में जीवंत बनाए रखती है। यह सत्य **कुटज** के माध्यम से मनुष्य की अपराजेय जीवनी शक्ति की व्याख्या भी है। इसके कारण ही आनंद भी है और जीवन की प्रेरणा भी है। यही **कुटज** की अभिव्यक्ति है। इस **कुटज** के रूपांतरण को पहचान कर ही हम निबंध लेखक को पहचान पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो हजारी प्रसाद द्विवेदी अब सीधे-सीधे मनुष्य को सम्बोधित कर रहे हैं - 'जीना चाहते हो? कठोर पाषण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो, वायुमंडल को चूसकर झंझा तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर अवकाश की लहरी में झूमकर उल्लास खींच लो । **कुटज** का यही उपदेश है।'

द्विवेदीजी की भाषा की निजी विशेषता है। **कुटज** तो माध्यम है। वास्तविक तो द्विवेदीजी का सत्य है जो उपर्युक्त शब्दों में झरने की भाँति फूट रहा है। इसीलिए वे जीवन को कला और

तपस्या दोनों मानते हैं। जीवन की कला क्या है और तपस्या क्या है? इसे वे और भी स्पष्ट करते हैं।

जीवन जीना केवल जीवित रहना ही नहीं है। सारा संसार केवल स्वार्थ के लिए जीवित है। हजारी प्रसाद द्विवेदी चिंतन अर्थात् बुद्धि पक्ष और भाव अर्थात् हृदय पक्ष को साथ-साथ लेकर चलते हैं। द्विवेदीजी जहाँ आवश्यक है विचार पक्ष को शुद्ध रूप में रखते हैं अन्यथा वे ललित भाव से विषय को प्रस्तुत करते हैं। पुत्र हो या प्रिया सभी अपने मतलब से प्यार करते हैं। अपने समर्थन में द्विवेदीजी पश्चिम के हाब्स और हेल्वेशियस का उल्लेख करते हैं। वे संस्कृत का एक वाक्य भी प्रस्तुत करते हैं - 'आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवतु'। द्विवेदीजी स्वार्थ की शास्त्रगत चर्चा करते हुए भावुक हो उठते हैं और ओजपूर्ण भाषा में लिखने लगते हैं : 'दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, परमार्थ नहीं है - है केवल प्रचण्ड स्वार्थ।' इस स्वार्थ के साथ ही वे जिजीविषा अर्थात् 'जीने की इच्छा' की भी विशद चर्चा करते हैं। भीतर की जिजीविषा - जीते रहने की प्रचण्ड इच्छा - ही अगर बड़ी बात है तो फिर यह सारी बड़ी बड़ी बोलियाँ, जिनके बल पर दल बनाए जाते हैं, शत्रुमर्दन का अभिनय किया जाता है, देशोद्धार का नारा लगाया जाता है, साहित्य और कला की महिमा गायी जाती है, झूठ हैं। इसके द्वारा कोई-न-कोई अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध करता है। इस सबका निष्कर्ष निकालते हुए वे मानते हैं कि यह सोचना गलत है। स्वार्थ और जिजीविषा से भी प्रचण्ड कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है। वह शक्ति क्या है? इसका उत्तर देते हुए वे 'समष्टि बुद्धि' को मान्यता देते हैं। अर्थात् समष्टि का स्वार्थ ही सबसे बड़ी शक्ति है। द्विवेदीजी ने अपन उपन्यासों में भी इसी की स्थापना की है। उनकी स्पष्ट किंतु अत्यंत महत्वपूर्ण मान्यता है कि 'अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता तब तक स्वार्थ खण्ड सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय कृपण बना देता है।' इसका अर्थ यह हुआ कि समष्टि और सर्व के प्रति अपने आपको पूरा दे देना ही पूर्ण सत्य है।

अपने इसी पूर्ण सत्य के लिए द्विवेदीजी **कुटज** को सामने रखते हैं। भावात्मकता और प्रवाहमयता के साथ वे **कुटज** की बात करते हैं - '**कुटज** क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नही जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने क लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति हेतु नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगले नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है- काहे वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। भीष्म पितामह की भाँति अवधूत की भाषा में कह रहा है, 'चाहे सुख हो या दुख, प्रिय हो या अप्रिय, जो मिल जाए उसे शान के साथ, हृदय से बिल्कुल अपराजित होकर, सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो।'

निबंध में, 'दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर दे देना' को ही '**कुटज** का मूर्त रूप' व्याख्यायित किय गया है। केवल जीना या स्वार्थ के लिए जीना सत्य नहीं है। स्वार्थ के कारण ही झुकना पड़ता है, भय का शिकार होना पड़ता है, खुशामद करनी पड़ती है, ढ़ोंग करना पड़ता है, और भी नाना प्रकार के निंदनीय कर्म करने पड़ते हैं। **कुटज** इन सबसे विलग होकर जीता है। द्विवेदीजी प्रश्न करते हैं किस लिए? काहे के वास्ते? वे ही उत्तर देते हैं कि - **कुटज** हृदय से अपराजेय होकर जीता है। वह अपने लिए नहीं जीता, सबके लिए जीता है। वह सुख में दुख में, प्रिय-अप्रिय में, सब स्थितियों में जो भी मिल जाए - 'सुख मिले या दुख' प्रिय मिले या अप्रिय सबको आनंद के साथ ग्रहण करता है। यही अवधूत भाषा है। **कुटज** निर्भय है। **कुटज** की तीन विशेषताओं का उल्लेख हजारी प्रसाद द्विवेदी करते हैं : (1) अकुतोभया वृत्ति, (2) अपराजित स्वभाव, (3) अविचल जीवन दृष्टि।

द्विवेदीजी कुटज को मिथ्याचारों से मुक्त मानते हैं। **कुटज** निबंध के अंत में द्विवेदीजी की मान्यताएँ प्रखर रूप से अभिव्यक्त हुई है। ये मान्यताएँ भारतीय चिंतन के मुक्तकण हैं। प्रथम बात तो यह है कि व्यक्ति न किसी का उपकार कर सकता है न अपकार। दूसरी बात यह है कि मनुष्य केवल जी रहा है, यह जीना इतिहास विधाता की इच्छा और योजना के अनुसार है। तीसरी बात यह है कि मनुष्य के द्वारा किसी को न सुख पहुँचाया जा सकता है न दुख। सुख पहुँच जाए, यह अच्छी बात है, इस पर अभिमान नहीं करना चाहिए। सुखी वह है जिसका मन-वश में है और दुखी वह है जिसका मन पर वश नहीं है। 'सुख और दुख मन के विकल्प हैं।' जिसका मन वश में नहीं है वह छल-छंद रचता है। **धोखा** देता है। **कुटज** इन सबसे मुक्त है। हजारी प्रसाद द्विवेदी इसको ही हमारे सामने **कुटज** के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण वे **कुटज** को प्रतीक के रूप में उपस्थित करते हैं और लिखते हैं कि **कुटज** 'वैरागी' है। राजा जनक की तरह संसार में रहकर, सम्पूर्ण भोगों को भोगकर भी उनसे मुक्त है। × × × '**कुटज** अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता।'

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि इस निबंध के केंद्र में **कुटज** है। यह अपने आप में भारतीय चिंतन का सिद्ध रूप है। यह सिद्ध रूप अपने मन को वश में कर लेने पर ही प्राप्त होता है स्वार्थ के लिए जीना व्यर्थ है, मूल तो समष्टि दृष्टि में और समष्टि के लिए अपना सब कुछ दे देने में है। यही विषय-वस्तु का सार है।

17.4 ललित निबंध के रूप में 'कुटज'

ललित निबंध क्या है? ललित निबंध का स्वरूप क्या है? ललित निबंध के तत्व क्या हैं। ललित निबंध के रूप में '**कुटज**' का परीक्षण करने के पूर्व इन प्रश्नों का उत्तर जानना आवश्यक है।

ललित निबंध मूलतः भाव प्रधान निबंध होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस प्रकार के निबंधों में विचार तत्व का अभाव होता है। कतिपय निबंधों में भावुकता का आधिक्य होने पर भी विचारों की अंतर्धारा बराबर प्रवाहित होती रहती है। कुछ निबंध पूरी तरह से भाव-प्रधान होते हैं। द्विवेदीजी के ललित निबंधों में विचार और भाव का समावेश बराबर-बराबर है। द्विवेदीजी का पाण्डित्य बराबर उनके साथ रहता है। निबंध लेखन में, स्वच्छंदता, सरलता, आडम्बर हीनता, घनिष्ठता और आत्मीयता के साथ लेखक के वैयक्तिक दृष्टिकोण का समावेश रहता है। निबंध एक ऐसी कलाकृति है जिसके नियमों का निर्माता स्वयं लेखक ही होता है। इतना अवश्य है कि सहज, आडम्बर-हीन आत्माभिव्यक्ति के लिए परिपक्व और विचारशील गंभीर व्यक्तित्व का होना आवश्यक है तभी निबंध लेखक की निकटता और आत्मीयता वास्तविक होती है। वस्तुतः ललित निबंध चिंतन प्रधान होते हैं किंतु निबंध लेखक अपनी प्रवृत्ति, स्वभाव या परिस्थिति के अनुसार भावना को प्रधानता देते हैं। इस प्रकार भावना और विचार का एक सहज समन्वय ललित निबंध का वैशिष्ट्य है। यह समन्वय पाठक के हृदय को द्रवीभूत भी करता है और उसकी बुद्धि को प्रेरित भी करता है। **कुटज** में हजारी प्रसाद द्विवेदी शास्त्र और भाव दोनों का आश्रय लेकर ललित शैली में तथ्य और सत्य को आत्मीयता के साथ प्रस्तुत करते हैं। **कुटज** एक फूलों वाला वृक्ष है पर उसका मानवीकरण करते हुए, द्विवेदीजी उसे मित्र, सखा और उससे भी अधिक एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

ललित निबंध वह साहित्यिक विधा है जिसमें भावना और विचारों का समन्वय होता है। स्वच्छंदता, सरसता, आडम्बर हीनता, घनिष्ठता और आत्मीयता के साथ लेखक अपनी निजता के साथ वैयक्तिक बोध और आत्मीयता को इसमें समाहित करता है। ललित निबंधों में कई साहित्य रूपों के गुण भी समाविष्ट रहते हैं। इसमें, जीवन की वास्तविकता, कहानी की संवेदना, नाटक की नाटकीयता, उपन्यास की चारू कल्पना, गद्य काव्य की भावातिशयता, महाकाव्यों की गरिमा, विचारों की उत्कृष्टता - सभी कुछ एक साथ प्राप्त होते हैं।

कुटज एक ललित निबंध है। इसका विषय भी **कुटज** है। इस विषय को प्रस्तुत करते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी उस भूमि पर भी प्रकाश डालते हैं जहाँ यह उगता है। यह स्थान है हिमालय की वे पर्वत श्रृंखलाएँ जिन्हें शिवालिक कहा जाता है। इस शिवालिक के विवरण में ज्ञान का प्रकाश है। स्थूल वर्णन यथार्थ होकर भी भावमूलक है। इसके साथ ही विषय का आत्मीय-विश्लेषण भी है। प्रवाहमयी भाषा है। इसके पश्चात् 'नाम' और 'रूप' की सैद्धांतिक व्याख्या है और फिर **कुटज** शब्द की भाषाशास्त्र के अनुसार व्याख्या है। यह व्याख्या शुष्क सैद्धांतिक न होकर भाव को भी समन्वित करती हुई चलती है। हृदय और बुद्धि का यह समन्वय इस निबंध की महत्वपूर्व उपलब्धि है। पं. रामचंद्र शुक्ल के निबंधों में प्रधानता तो बुद्धि की है - कहीं-कहीं हृदय भी उसमें जुड़ जाता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में हृदय और बुद्धि साथ-साथ चलते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने **कुटज** को मानवी-चेतना का रूप प्रदान किया है। यह पुरुष विशेष है। **कुटज** के साथ द्विवेदीजी सहज आत्मीय संबंध भी बना लेते हैं। इसके बीच में कालिदास का मेघदूत और उनकी **कुटज** कुसुमों से मेघ की अभ्यर्थना आदि समाहित है। इस सारे विवरण के साथ ही उनकी आत्मीयता **कुटज** की अभ्यर्थना में परिवर्तित हो जाती है। **कुटज** ने उनके संतप्त चित्त को सहारा दिया था। 'बड़ भागी फूल है यह। धन्य हो **कुटज**, तुम गाढ़े के साथी हो। उत्तर की ओर सिर उठाकर देखता हूँ, सुदूर तक ऊँची काली पर्वत-श्रृंखला छायी हुई है और एकाध सफेद बादल के बच्चे उनसे लिपटे खेल रहे हैं। मैं भी इन पुष्पों का आदर्श उन्हें चढ़ा दूँ।' आगे चलकर द्विवेदीजी कहते हैं। - 'जो कालिदास के काम आया हो उसे ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज्जत तो नसीब की बात है।' इसके समानांतर वे रहीम को रखते हैं। रहीम को भी जो स्थान मिलना चाहिए था नहीं मिला। **कुटज** के फूल को भी वह सम्मान नहीं मिला जिसके योग्य वह है। इस स्थान पर सहज भाव से हजारी प्रसाद द्विवेदी एक शुद्ध सत्य को सहजता के साथ रख देते हैं। 'लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है।'

द्विवेदीजी भाषाशास्त्री हैं फलतः **कुटज** शब्द का ऐतिहासिक संबंध, उसकी प्राचीनता, उसकी व्युत्पत्ति, उसका भाषा परिवार, उसके विविध आयामों पर शास्त्रोक्त मीमांसा करने के पश्चात् वे पुनः प्रकृति लालित्य के मध्य **कुटज** की प्रतिष्ठा करते हुए प्रतीत होते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी संपूर्ण आत्मीयता के साथ **कुटज** को आदर्श चिंतन के प्रवक्ता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। भाषा, भाव और बोध के लालित्य के रूप में हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध **कुटज** की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : यथा - 'मगर **कुटज** है कि संस्कृत की निरंतर स्फीयमान शब्द राशि में जो जमके बैठा सो बैठा ही है। चारों ओर कुपित यमराज के दारूण विश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषण की कारा में रूद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है। और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरि कांतर में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी शक्ति है।' इसके पश्चात् हजारी प्रसाद द्विवेदी **कुटज** को जीवनी शक्ति के महत्तम प्रतीक के रूप में विनियोजित कर उसके माध्यम से अपनी सामाजिक-चेतना संबंधी विचार-सरणि को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। यह ललित-निबंध द्विवेदीजी की सामाजिक मान्यताओं का विचार-कोष है। यह निबंध हृदयानुभूति का विचार कोष भी है।

ललित निबंध का एक वैशिष्ट्य स्वच्छंदता है। स्वच्छंदता ही वह विशेषता है जो निबंध को शास्त्र के बोझ से मुक्त करती है। स्वच्छंदता का अर्थ निबंध के संदर्भ में अनियंत्रित होना नहीं है वरन् वह लेखक की 'निजता' के मुक्त सन्निवेश से संबंधित है। मुक्तभाव से हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने विचारों को इस निबंध में स्थान देते हैं।

ललित निबंध में आत्मीयता और आडम्बरहीनता का विशेष स्थान है। **कुटज** निबंध में **कुटज** के साथ लेखक की आत्मीयता पाठक की आत्मीयता बन जाती है। इसमें शास्त्रीयता के साथ आत्मीयता का समन्वय होता है। बुद्धि और हृदय इस प्रकार के निबंधों में अलग-अलग राह पर नहीं चलते हैं। उनमें एकात्मकता रहती है। इसी कारण ललित निबंधों की व्यंजना रागाश्रित

व्यंजना होती है। **कुटज** इस रागाश्रित व्यंजना का अभिनव रूप है। यह रागाश्रित व्यंजना पाठक को आकर्षित करती है और आत्मीयता से बाँध लेती है। पाठक, लेखक और निबंध तीनों ही एकतान होकर रचना को अपने में समाहित करते हैं और स्वयं रचना में समाहित होते हैं। लेखक के भाव और विचार पाठक को प्रभावित करते हैं। यह आत्मीयता रस की संवाहिका भी है और स्वरूप दर्शिका भी है। आडम्बर साहित्य का गुण नहीं दुर्गुण है। ललित निबंध इस आडम्बर के आवरण को अस्वीकार कर सहजता में ही सम्पूर्ण होता है। यदि एक प्रकार से देखा जाय तो **कुटज** का उत्पत्ति-स्थल, रेतीले पहाड़ों के कठिनतम पर्यावरण के मध्य उसका जन्म लेना और उसी परिवेश में पुष्पित पल्लवित होना सब कुंछ एक कहानी जैसा लगता है। एक ऐसी कथा जिसका नायक असीम जीवनी शक्ति से जीवंत भी है। इसका नायकत्व जीवन की कला भी जानता है। उसमें रस भी है और आदर्श भी। हजारी प्रसाद द्विवेदी उसे नाना प्रकार के विशेषणों से संबोधित करते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी आत्मीय एवं घनिष्ठ भाव से **कुटज** से जुड़ जाते हैं। इस निबंध से गुजरते हुए ऐसा लगता है जैसे द्विवेदीजी ने उसकी काया में ही प्रवेश कर लिया है। इसको ही 'परकाय प्रवेश' कहते हैं। यदि ऐसा न होता तो निबंध बाह्य विवरण देकर ही समाप्त हो जाता। ललित निबंध का वैशिष्ट्य अंतरंग होने में है। **कुटज** के साथ यह अंतरंगता **कुटज** निबंध का प्राण है। वह सखा है, मनस्वी मित्र है, गाढ़े का साथी है। हजारी प्रसाद द्विवेदी **कुटज** के साथ एकात्म हो जाते हैं। विवरण तो कोई भी सामान्य लेखक दे सकता है, पर विषय-वस्तु के साथ एकात्म स्थापित करना महान् लेखक के द्वारा ही हो सकता है। इस एकात्म भाव के कारण कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि **कुटज** के भीतर से हजारी प्रसाद द्विवेदी की वाणी का झरना प्रवाहित हो रहा है। विषय से अभिन्नता ललित निबंध के लिए आवश्यक है। यह एकत्व और आत्मीयता होने पर वस्तु की अंतरंगता स्पष्ट होती है। हृदय का हृदय से विनियोग होता है। यह विनियोग चिंतन के प्रवाह को प्रस्तुत करता है, भाषा को गतिमान बनाता है, आत्मीयता से भर देता है, शिल्प को वैभव प्रदान करता है और भाषा को सरस और सारगर्भित बनाता है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी **कुटज** के जीवन को शानदार ढंग से चित्रित करते हैं। द्विवेदीजी **कुटज** की रचना करते हैं और उनकी अपनी दृष्टि **कुटज** में रम जाती है। इस रम्य दृष्टि का आलेखन एक चमत्कार पैदा करता है। पूरे निबंध में **कुटज** से जुड़कर हजारी प्रसाद द्विवेदी की वैयक्तिक दृष्टि कभी भाव, कभी उपदेश और कभी जीवनादर्श के रूप में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। **कुटज** 'द्वन्द्वातीत' है। 'अलमस्त' है। **कुटज** मुझे 'अनादिकाल से जानता है।' मैं भी **कुटज** को पहचानता हूँ, 'अवश्य पहचानता हूँ।' आदि कथन हजारी प्रसाद द्विवेदी के एकात्मता और भाव को स्पष्ट करते है। यह **कुटज** 'चिर परिचित दोस्त' है। हजारी प्रसाद द्विवेदी इस चिरपरिचित दोस्त से जी भर कर बात करते हैं। जीवन जीना चाहते हो तो 'कठोर पाषण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो, वायुमंडल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर अवकाश की लहरी में झूमकर उल्लास खींच लो। **कुटज** का यही उपदेश है। पाषाण, पाताल, वायु और आकाश से क्या और कैसे लेना, यह **कुटज** का उपदेश नहीं हैं। यह तो हजारी प्रसाद द्विवेदी की अपनी दृष्टि है अपनी चेतना है, अपना दर्शन अथवा भारतीय चिंतन की थाती है जो **कुटज** के माध्यम से अभिव्यक्ति पा रही है। इसी प्रकार 'मैं' का 'सबके लिए' सबकुछ दे देना और यह भी 'दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर सर्व के लिए निछावर कर देना' भी द्विवेदीजी के चिंतन, दर्शन और दृष्टि, का ही रूप है। अंत में भी, सुखी कौन है का यह उत्तर कि जिसका मन वश में है वही सुखी है, यह कहना भी हजारी प्रसाद द्विवेदी के सोच का ही प्रमाण है जो इस निबंध में ही नहीं, उनके द्वारा रचित अन्यान्य साहित्य विधाओं में भी अभिव्यक्त हुआ है। ललित निबंध में यह वैयक्तिक दृष्टि सबके लिए प्रयुक्त होती है। ललित निबंध में सहजता, सरसता और प्रवाह का होना भी आवश्यक है **कुटज** निबंध में ये सभी गुण विद्यमान है।

इस निबंध का उद्देश्य क्या है? यह निबंध अपने लघु आकार में एक महाकाव्य की गरिमा समेटे हुए है। ललित इसका शिल्प है, इसकी शैली है, और जीवन को जीवनीशक्ति प्रदान करना तथा निस्वार्थ होकर व्यक्ति का समाज के लिए निःशेष हो जाना इसका उद्देश्य है। यह व्यष्टि का समष्टि के लिए आदर्श कर्म है। यही शान से जीना है।

ललित निबंध के रूप में **कुटज** अत्यंत उत्कृष्ट निबंध है। भाव और चिंतन का सामंजस्य तथा भाषा का लालित्य और प्रवाह इस निबंध को विशिष्टता प्रदान करते हैं। यह निबंध सहजता और सरसता में महत्तम चिंतन का प्रकाशक है। विषयवस्तु सूक्ष्म और गहन है परंतु **कुटज** का माध्यम जिस सहजता और प्रसन्न भाषा के साथ उसे प्रत्यक्ष करता है वह ललित निबंध का मानदंड है। शास्त्र-ज्ञान इसमें है, दर्शन इसमें है और चिंतन भी इसमें है किंतु उसकी प्रस्तुति ललित है, प्रिय है और सुंदर है। इसमें प्रकृति भी है और पुरुष भी है। दोनों का लीला भाव भी है। हिदीं ललित निबंधों के क्षेत्र में **कुटज** अद्वितीय है।

17.5 'कुटज' की भाषा-शैली

कुटज की भाषा विचारों और भावों के अनुरूप प्रवाहमयी सहज भाषा है। वाक्य रचना विषय के अनुरूप है, जिसमें कहीं छोटे-छोटे और कहीं बड़े-बड़े वाक्यों की रचना की गई है। जहाँ जिज्ञासा मूलकता है वहाँ कई प्रश्नवाचक वाक्यों की रचना की गई है। उदाहरण के लिए देखिए- रूप मुख्य है या नाम? नाम बड़ा है या रूप? पद पहले या पदार्थ? हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा कहीं-कहीं व्याख्यानपरक अथवा व्याख्यात्मक भी हो जाती है। इस प्रकार की भाषा में विवरण-प्रधानता आ जाती है। यह विवरण विषय के अनुसार कहीं चित्रात्मक भाषा का रूप लेकर उपस्थित होता है, तो कहीं शास्त्रों की बारीक जानकारियों का संग्रह बनकर सपाट रूप में उपस्थित होता है। यथा - (1) इन्हीं में से एक छोटा-सा बहुत ही ठिगना पेड़ है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब सी अदा है, मुस्कराता जान पड़ता है। (2) **कुटज** अर्थात जो कुट से पैदा हुआ हो। 'कुट' घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कुट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण अगस्त्य मुनि भी **कुटज** कहे जाते हैं।

इनमें उदाहरणों में भाषागत भिन्नता है। प्रथम में विवरण तो है पर साथ ही चित्रात्मकता है और चित्रात्मकता के साथ लेखक की आत्मीयता भी प्रकट हुई है। मानवीकरण तो है ही। दूसरे में शास्त्र-चर्चा है अतएव भाषा सपाट है किंतु बुद्धिमूलक है। बुद्धि के द्वारा विषय के अर्थ को सुस्पष्ट करते समय वे सस्कृत, हिंदी और देशी-विदेशी विद्वानों के, गद्य और पद्य के मिले जुले उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं जिसके द्वारा विषय की प्रमाणिकता की पुष्टि तो होती ही है पर साथ ही भाषा भी समर्थ और बहुआयामी बन जाती है।

ठीक इसके विपरीत जब द्विवेदीजी विषय को आत्मीय दृष्टि प्रदान करते हैं तब भाषा में प्रवाह, लालित्य तथा काव्यात्मकता का सन्निवेश हो जाता है। एक उद्धरण **कुटज** से प्रस्तुत है - 'बहरहाल यह कूटज - **कुटज** है, मनोहर कुसुम-स्तबकों से झबराया, उल्लास लोल चारुस्मित **कुटज**। कालिदास ने 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' रामगिरि पर यक्ष को जब मेघ की अभ्यर्थना के लिए नियोजित किया तो कम्बख्त को ताजे **कुटज** पुष्पों की अंजलि देकर ही संतोष करना पड़ा - चम्पक नहीं, बकुल नहीं, नीलोत्पल नहीं, अरविन्द नहीं - फकत **कुटज** के फूल।' इस उद्धरण को सामने रखकर हम ललित निबंध की भाषा के प्रतिमान स्थिर कर सकते हैं। इस भाषा में कालिदास के मेघदूत के उल्लेख से भाषा के माध्यम से कितने ही बिम्ब बन जाते हैं। ये बिम्ब चाक्षुष या दृश्य बिम्ब भी हैं और मानस बिम्ब भी। बिम्बों की यह श्रृंखला केवल दृश्यात्मक ही नहीं है अपितु एक पुलक भी देती है। यह सर्जनात्मक भाषा का ऐसा रूप है, जिसमें लेखक की बुद्धि भी रमी हुई है, जो अंततः भावात्मकता और आत्मीयता में घुलमिल जाती है।

इस निबंध की भाषा का एक उदाहरण और देखिए : 'कुटज क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति ओर धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने क लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति हेतु नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है - काहे वास्ते, किस उद्देश्य से?'

इस उद्धरण में मुहावरों की झड़ी लगी हुई है। भाषा के पीछे से व्यंग भी जगह-जगह झाँकता हुआ प्रतीत होता है। एक वातावरण की सृष्टि भी भाषा ने की है जिसमें रस बहुमूल तथ्य का निर्देश भी है कि आज का युग स्वार्थ युग है जिसमें खुशामद, चाटुकारिता, अन्ध विश्वास, दीनता आदि ही सब कुछ हो गए हैं। पर शान से वही जी सकता है जो इन सबको धता बताकर निर्भय भाव से जीवित रहे। इस भाषा में लक्षणा और व्यंजना ने भाषा को गरिमा और शक्ति प्रदान की है। कितने ही बिम्ब अनायास ही पाठक के सामने तैरने लगते हैं। कोई भी निबंध विचार शून्य नहीं होता। द्विवेदीजी के निबंध की भाषा समर्थ भाषा है। उसमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का पूरा पूरा प्रयोग है। इस भाषा में विचार और संवेदना दोनों को वहन करने की शक्ति है। इस भाषा में प्रवाह है, बिम्बात्मकता है, सहजता है और सरलता है, जटिलता नहीं। इसमें आख्यान भी है और व्याख्यान भी। यह भाषा विवेक को जाग्रत करने वाली भाषा है। भाषा का सौन्दर्य और लालित्य यहाँ गतिमान रूप में अपनी निरंतरता बनाए हुए है। ललित निबंध के लिए यह मानक भाषा है। द्विवेदीजी की निबंध भाषा जड़ भाषा नहीं है, अतिशय भावुकता से सनी चिपचिपाती-भिनभिनाती भाषा भी नहीं है, यह तो एक चिंतक के हृदय की भाषा है। इस भाषा के द्वार सभी भाषाओं के लिए खुले हुए है। यहाँ संस्कृत है, उर्दू है, लोकभाषा है, हिंदी है, श्लोक है, और दोहे भी है। 'द्वंद्वातीत' के साथ 'अलमस्त' शब्द रखा हुआ है। बेहया, मस्तमौला, गलत बयानी, बेरूखी, बेकद्रदानी कितने ही उर्दू के शब्द यहाँ प्रयुक्त हुए हैं। बिरछ, काहे, जैसे लोकभाषा के शब्द के प्रयोग तो द्विवेदी की भाषा में है ही अंग्रेज़ी का तो पूरा का पूरा वाक्य ही नागरी लिपि में रख दिया गया है। 'ह्वाट्स देयर इन ए नेम'। संस्कृत के शब्दों की तो लड़ी की लड़ी इस निबंध में प्रयुक्त हुई है। यथा - सुस्मिता, गिरिकांता, शुभ्रकिरीटिनी, मदोद्धता, विजितातपा, अलकावतंसा आदि-आदि। द्विवेदीजी की भाषा समृद्ध भाषा है। विषय के अनुरूप भाषा है। उसमें बिंबधर्मिता है, अर्थ गौरव है, व्यंजकता है और व्यापकता है। ललित निबंध की बहुआयामी सर्जनात्मक भाषा का एक आदर्श रूप उन्होंने हिदीं जगत में प्रतिष्ठित किया है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निबंधों की पाँच श्रेणियों का उल्लेख किया है। वार्तालाप मूलक, व्याख्यान मूलक, अनियंत्रित गप्प मूलक, स्वगत चिंतन मूलक और कलह मूलक। द्विवेदी जी इन श्रेणियों को सूक्ष्म या साहित्यिक नहीं मानते हैं। मेरे विचार से ये ही निबंध की वे शैलियाँ है जो द्विवेदीजी के निबंधों का रचाव करती है।

कुटज से तो द्विवेदी जी आत्मीय भाव के साथ भिन्नता का संबंध स्थापित कर लेते हैं और उससे बातचीत करते हुए प्रतीत होते हैं। देखिए - 'पहचानता हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ।' अथवा इस निबंध के अंत में वे कहते हैं - 'मनस्वी मित्र, तुम धन्य हो।' इस वार्तालाप शैली की वजह से वे **कुटज** का मानवीकरण करते हैं। वार्तालाप की सहजता और अपनापन **कुटज** निबंध की एक शैली है। द्विवेदीजी के इस निबंध में कई शैलियों का प्रयोग किया गया है।

इस निबंध की व्याख्यान शैली में सरल भाषा, व्याख्यात्मकता तथा प्रवाह का विशेष स्थान है। एक उदाहरण देखिए : 'जो समझता है कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरे उसका अपकार कर रहे हैं, वह बुद्धिहीन है। कौन किसका अपकार कर रहा है? मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है, अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाए बहुत अच्छी बात है, नहीं मिल सका,

कोई बात नहीं, परंतु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि गलत है, तो दुख पहुँचाने का अभिमान तो नितांत गलत है।' इस उद्धरण में व्याख्यान शैली के सभी गुण विद्यमान हैं। इस उद्धरण में सहजता के साथ आकर्षित करने वाली भाषा है जिसमें निजता भी है। इसमें चिंतन भी है जो विचार करने की प्रेरणा देता है।

कुटज निबंध में गप्प मूलकता भी है। यह कथा कहने की शैली है। गप्प का अर्थ 'झूठ' नहीं है। गप्प में एक कथा जैसी होती है अथवा एक बात भी होती है। गप्प मारना, कृत्रिम शैली में वार्तालाप करना है। सहजता और स्वाभाविकता के साथ सत्यता की झंकृति इस शैली की विशेषता है। इस निबंध में गप्प शैली का प्रयोग न्यूनाधिक मात्रा में किया गया है। ललित निबंध में यह शैली आत्माभिव्यक्ति के साथ सहजता प्रदान करती है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत है **कुटज** का एक अंश : 'याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, पत्नी के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती - सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं - आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति!' विचित्र नहीं है यह तर्क? संसार में जहाँ कहीं प्रेम है सब मतलब के लिए है।'

स्वगत चिंतन शैली इस निबंध में विशेष रूप से काम में लाई गई है। यह चिंतन **कुटज** के रूप, नाम और कृतित्व के प्रकाशन के साथ-साथ सामाजिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने के लिए प्रयुक्त की गई है।

वैसे शैली अंग्रेज़ी के 'स्टाइल' शब्द का अनुवाद है। प्राचीन साहित्यशास्त्र में शैली से मिलता जुलता शब्द 'रीति' है। आचार्य वामन इसे विशिष्ट पदरचना कहते हैं। शैली को गुण मानते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है। 'शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है जो विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुंदर एवं प्रभावपूर्ण बनाती है। यदि इस परिभाषा को ग्रहण करें तो एक बात स्पष्ट है कि प्रमुखता विषय-वस्तु की है। शैली प्रस्तुतीकरण में सहायक होती है। अब प्रश्न यह है कि क्या किसी भी विषय-वस्तु की निर्धारित शैली हो सकती है। शैली का निर्धारण तो लेखक ही करता है। अतः कई प्रकार की शैलियों का प्रयोग लेखक विषय की अभिव्यक्ति के लिए अपनी रुचि के अनुसार करता है। इस प्रकार की शैलियों के कई प्रकार हो सकते हैं, जैसे विवरणात्मक, व्याख्यात्मक, समीक्षात्मक, गवेषणात्मक और भावात्मक आदि। शैलियों पर व्यास और समास शैली के रूप में भी विचार किया जाता है। समास अर्थात् सूत्रबद्धता ओर व्यास अर्थात् व्याख्यात्मकता। **कुटज** निबंध में विषय के अनुरूप, विवरणात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक और गवेषणात्मक शैलियाँ व्यवहृत हुई हैं।

लालित्य या ललित भाव, ललित निबंध के लिए आवश्यक है। इसे हम भावात्मक शैली कह सकते हैं। कोई भी निबंध विचार से शून्य नहीं होता। विचार से शून्य होने पर तो ऐसा निबंध प्रलाप मात्र होकर रह जाएगा। **कुटज** विचारों की श्रृंखला भी है और भावाभिव्यंजना भी। हजारी प्रसाद द्विवेदी की शैली में इन दोनों का अभूतपूर्व सामंजस्य है।

17.6 सारांश

आपने हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध **कुटज** के बारे में लिखी गई इस इकाई का अध्ययन कर लिया है। आपके सामने यह स्पष्ट हो गया होगा कि द्विवेदीजी के निबंधों की क्या विशेषता है और उसमें **कुटज** का क्या महत्व है।

कुटज ललित निबंध है। ललित निबंध यानी ऐसा निबंध जिसमें भाव और विचार के सामंजस्य और भाषा-शैली के लालित्य के द्वारा लेखक अपनी बात आत्मीय ढंग से कहता है। **कुटज** में द्विवेदीजी इसी ढंग से अपनी बात कहते हैं।

कुटज के बहाने से वे मानव-प्रकृति और मानव धर्म के ऐसे पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं जिनका मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास में केंद्रीय महत्व है। द्विवेदीजी मानवतावादी लेखक थे। वे जीवन में संघर्ष और प्रेम दोनों को समान महत्व देते थे। उनकी दृष्टि में यदि हमारा स्वार्थ सभी का स्वार्थ न बने तो मानव जीवन की सार्थकता क्या। अपने इसी दृष्टिकोण को उन्होंने **कुटज** के माध्यम से व्यक्त किया है। **कुटज** एक अल्प परिचित प्रकृति का रूप, लेकिन जो किसी यश और अर्थ की कामना के बिना, किसी के आगे नतमस्तक हुए बिना अपने जीवन के लिए रस ग्रहण करता है और इस संघर्षधर्मी जीवन से जो सौंदर्य वह सृष्टि को प्रदान करता है, उसका महत्व क्या शब्दों में बयान किया जा सकता है। द्विवेदीजी ने इसी बात को इस निबंध के माध्यम से कहा है।

कुटज को पढ़ते हुए यह लग सकता है कि हम एक पहाड़ी पौधे के बारे में जानकारी हासिल कर रहे हैं। उसके इतिहास, उसका परिवेश, उसकी प्रकृति सबके बारे में। निश्चय ही ये सब बातें निबंध में है, लेकिन इन बातों को द्विवेदीजी ने इस ढंग से कहा है कि इनका अर्थ सिर्फ **कुटज** तक ही सीमित नहीं रहता। यह काव्य की समास शैली है जिसका प्रयोग वे निबंध के लिए भी करते हैं।

भाषा की दृष्टि से भी निबंध का प्रभाव अप्रतिम है। द्विवेदीजी के निबंध में न तो वैचारिक बोझिलता होती है, न भावात्मक ऊहापोह। वे ज्ञान को संवेदनात्मक रूप में और संवेदना को ज्ञानात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं। निबंध में उनके पांडित्य का भी प्रमाण मिलता है, लेकिन वह आतंकित नहीं करता बल्कि हमारे ज्ञान भंडार को समृद्ध करता है।

आशा है इस इकाई के अध्ययन से आपको **कुटज** को समझने में मदद मिली होगी।

अभ्यास

1. ललित निबंध की दृष्टि से **कुटज** की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. **कुटज** के माध्यम से लेखक क्या कहना चाहता है? सोदाहरण उल्लेख कीजिए।
3. **कुटज** पर लेखकीय व्यक्तित्व के प्रभाव की समीक्षा कीजिए।

इकाई 18 निबंध : संस्कृति और जातीयता

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 **संस्कृति और जातीयता** की अंतर्वस्तु
18.3 हिंदी जाति की अवधारणा
18.4 **संस्कृति और जातीयता** का मूल्यांकन
18.5 लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव
18.6 निबंध की भाषा-शैली
18.7 सारांश

18.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के चौथे पाठ्यक्रम 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के इस चौथे खंड में आप हिंदी निबंधों का अध्ययन कर रहे हैं। इस इकाई में आप हिंदी के मूर्धन्य आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा के निबंध **संस्कृति और जातीयता** के बारे में अध्ययन करेंगे। डॉ. रामविलास शर्मा के इस निबंध पर विचार करने से पहले उनके व्यक्तित्व के ऐसे पहलुओं का परिचय दिया गया है जिससे उनके निबंध को समझने में मदद मिलेगी।

संस्कृति और जातीयता दोनों ही महत्वपूर्ण धारणाएँ हैं जिनके बारे में रामविलासजी ने इस निबंध की रचना के बाद भी लगातार लिखा है। संस्कृति और जातीयता की अवधारणाओं से उनका क्या तात्पर्य है और उनका परस्पर क्या संबंध है, इकाई में उक्त निबंध के संदर्भ में इस पर विचार किया है।

जातीयता से तात्पर्य यहाँ जातिप्रथा से नहीं बल्कि राष्ट्रीयता से है। इस संबंध में रामविलासजी ने हिंदी जातीयता की अवधारणा को भी सामने रखा है। इस पर हिंदी संसार में लंबे समय से बहस हो रही है। इकाई में इस पर भी विचार किया गया है।

डॉ. रामविलास शर्मा की हिंदी जगत में पहचान एक आलोचक और चिंतक की है। यद्यपि वे बड़े कवि भी थे। इस निबंध में उनका चिंतक रूप ही हमें देखने को मिलता है। इस दृष्टि से यह निबंध विचार प्रधान है। लेकिन निबंध की भाषा और शैली पर इस विचार प्रधानता का क्या असर हुआ है और इस दृष्टि से उनके निबंध की क्या विशेषताएँ हैं इस पर भी इकाई में विचार किया गया है।

डॉ. रामविलास शर्मा के उक्त निबंध की अंतर्वस्तु और भाषा-शैली की विशेषताओं को समझने के बाद हम इस बात को आसानी से समझ सकते हैं कि उनके निबंध लेखन का महत्व क्या है और वह किस रूप में हिंदी निबंध परंपरा को समृद्ध करते हैं। इकाई में इस पर भी विचार किया गया है।

18.1 प्रस्तावना

संस्कृति और जातीयता हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा का वैचारिक निबंध है। यह इस पाठ्यक्रम की अठाहरवीं इकाई है। इससे पहले आप प्रतापनारायण मिश्र, रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में आप रामविलास शर्मा के **संस्कृति और जातीयता** निबंध के बारे में अध्ययन करेंगे। इस निबंध से आप को

जातीयता और संस्कृति की परिकल्पना को समझने में सहायता तो मिलेगी ही, साथ ही इकाई में निबंध की अंतर्वस्तु, लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव और निबंध की भाषा और शैली की विशेषताओं पर भी विचार किया गया है। इकाई के अध्ययन से आप को रामविलास शर्मा के निबंधों की विशेषताओं को समझने में भी सहायता मिलेगी।

रामविलास शर्मा का संबंध साहित्य के प्रगतिशील आंदोलन से रहा है। प्रगतिशील आंदोलन की शुरुआत तीस के दशक में हुई थी। लगभग उसी समय रामविलासजी ने लिखना आरंभ किया था। भारतेंदु युग से गद्य का आरंभ हुआ था, यह हम आपको बता चुके हैं। आप प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** के अध्ययन से जान चुके हैं कि भारतेंदु युग में निबंध लेखन की विशेषताएँ क्या-क्या थीं। भारतेंदु युग से जिस यात्रा की शुरुआत हुई थी, उसको रचनात्मक उत्कर्षता तक पहुँचाने में रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी का महत्वपूर्ण योगदान है। इन दोनों निबंधकारों के निबंधों का अध्ययन भी आप कर चुके हैं। रामचंद्र शुक्ल के निबंधों को विचारप्रधान निबंधों की श्रेणी में रखा जाता है जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों को ललित निबंधों की श्रेणी में। रामविलास शर्मा के निबंध विचार प्रधान निबंधों की श्रेणी में ही माने जाते हैं। इस निबंध को पढ़ने से आप स्वयं अनुभव करेंगे कि **संस्कृति और जातीयता** एक विचार प्रधान निबंध है। इस दृष्टि से निबंध की विशेषताओं पर भी इकाई में विचार किया जाएगा।

रामविलास शर्मा ने इस निबंध में संस्कृति और जातीयता की संकल्पना पर विचार किया है। संस्कृति और जातीयता से क्या तात्पर्य है? इन दोनों का परस्पर क्या संबंध है? हमारे देश के संदर्भ में संस्कृति और जातीयता का विकास किस रूप में हुआ है? आधुनिक और स्वतंत्र भारत में सांस्कृतिक विविधता और जातीय एकता के लिए क्या किया जाना ज़रूरी है? हिंदी भाषी प्रांतों में सांस्कृतिक और जातीय एकता का स्वरूप क्या होना चाहिए? ये कुछ सवाल है, जिन पर रामविलासजी ने अपने इस निबंध में विचार किया है। हम इन सभी पहलुओं का विवेचन कर यह समझने का प्रयास करेंगे कि रामविलासजी के मत की प्रासंगिकता क्या है? अपने विचारों को प्रस्तुत करने में भाषा और शैली दोनों दृष्टियों से उन्हें किस सीमा तक सफलता मिली है। इस निबंध पर रामविलासजी के लेखकीय व्यक्तित्व के प्रभाव पर भी निबंध में विचार किया जाएगा।

इस निबंध से संबंधित इकाई का अध्ययन करने से पूर्व हम आपसे यह अपेक्षा करते हैं कि आपने डॉ. रामविलास शर्मा का उक्त निबंध पढ़ लिया है। इससे आपको इकाई को समझने में मदद मिलेगी। हमने इस पाठ्यक्रम से संबंधित पाठ्यक्रम निर्देशिका में डॉ. रामविलास शर्मा के लेखकीय व्यक्तित्व का परिचय भी दिया है। उम्मीद है आपने उसका भी अध्ययन कर लिया होगा।

18.2 'संस्कृति और जातीयता' की अंतर्वस्तु

संस्कृति और जातीयता डॉ. रामविलास शर्मा का काफी महत्वपूर्ण निबंध है। जातीयता विषय पर लेखन के प्रति वे शुरू से ही आकृष्ट रहे हैं। बाद में उन्होंने हिंदी जातीयता की अवधारणा को प्रस्तुत किया और उस पर लगातार लेखन किया। नवें दशक में उन्होंने 'हिंदी जाति का साहित्य' नाम की पुस्तक भी लिखी। अपने जीवन के अंतिम दौर तक वे इस विषय पर लिखते रहे हैं और इस अवधारणा पर दूसरे लेखकों और विद्वानों के विचारों की समीक्षा भी प्रस्तुत करते रहे हैं। हिंदी जातीयता की अवधारणा आज हिंदी साहित्य जगत की एक सर्वमान्य अवधारणा हो गई है। यद्यपि इसकी परिभाषा और व्याख्या को लेकर काफी मतभेद है। लेकिन यह श्रेय रामविलासजी को ही जाता है कि उन्होंने हिदीं जातीयता और हिंदी जाति का साहित्य को साहित्य आलोचना के केंद्र में स्थापित कर दिया। जातीयता संबंधी उनकी अवधारणा को समझने के संदर्भ में प्रस्तुत निबंध आधार का काम करता है।

यह एक विचार प्रधान निबंध है। इसमें लेखक ने संस्कृति और जातीयता के पारस्परिक संबंधों पर भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार किया है। इस निबंध में व्यक्त विचारों को ही बाद में रामविलासजी ने विस्तार से प्रस्तुत किया है। हम इसी इकाई में उनके बाद के लेखन के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर और गहनता से विचार करेंगे। पहले हम इस निबंध की अंतर्वस्तु पर विचार करेंगे।

संस्कृति की परिभाषा

इस निबंध की शुरुआत लेखक ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए की है। वे लिखते हैं, 'संस्कृति एक व्यापक शब्द है। उसके अंतर्गत मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान - ये सभी आ जाते हैं।' इस छोटी सी परिभाषा पर विचार करें तो हम पाते हैं कि इसमें मनुष्य की गतिविधियों के सभी क्षेत्र समाविष्ट हो जाते हैं। मनुष्य का सोचना-विचारना, महसूस करना और उसकी क्रियाशीलता का विस्तृत संसार संस्कृति के क्षेत्र में आता है। न सिर्फ़ आज का बल्कि मानव सभ्यता के इतिहास में उसने जो कुछ अर्जित किया है, जिससे मनुष्य और अधिक मनुष्य बनता है, वह सब संस्कृति के अंतर्गत समाविष्ट होता है। रामविलासजी की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि संस्कृति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे जीवन और जीवन से जुड़ी गतिविधियों से काटकर देखा जा सकता है। वह तो मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप में समाहित है। मनुष्य का पहनना-ओढ़ना, खाना-पीना, रचना-सोचना, बोलना, लिखना, कौन-सा ऐसा कार्य है जिसमें संस्कृति अभिव्यक्त नही होती या जिससे संस्कृति का निर्माण नहीं होता। यही कारण है कि रामविलासजी इस निबंध में आगे कहते हैं कि 'अपने सुदीर्घ जीवन में मनुष्य ने ऐसी सांस्कृतिक निधि अर्जित की है जो मानव-मात्र की संपत्ति है।' इस मानव संस्कृति के वे तीन उदारहण भी प्रस्तुत करते हैं : एक, बच्चों से प्यार, दूसरा, नारी जाति का सम्मान, और तीसरा मनुष्य-मात्र की समानता का भाव। मानव संस्कृति के ऐसे कई अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कह सकते हैं कि संपूर्ण मानव जाति की एक समान संस्कृति होती है। लेकिन उनका मानना है कि अलग-अलग देशों और वर्गों की अलग-अलग संस्कृति भी होती है। स्वयं उनके शब्दों में, 'देशों और महाद्वीपों के साथ वर्गों की अपनी संस्कृति भी होती है।'

सामंतवाद और वर्णव्यवस्था

रामविलासजी के इस कथन से साफ ज़ाहिर है कि उनके विचार में यदि एक मानव संस्कृति होती है तो एक राष्ट्रीय संस्कृति भी होती है। लेकिन एक राष्ट्र या समाज में सभी की संस्कृति एक-सी नहीं हाती। यहाँ वे इस बात पर बल देते हैं कि एक ही समाज में अलग-अलग संस्कृति होती है। यही कारण है कि उन्होंने निबंध में लिखा है कि मानव-संस्कृति मानव-जीवन से भिन्न नहीं है। चूँकि मानव जीवन निरंतर परिवर्तनशील है और यह परिवर्तन सभी समाजों में एक-सा घटित नहीं होता इसलिए सांस्कृतिक परिवर्तन भी अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। संस्कृति की परिवर्तनशीलता के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाते हुए वे कहते हैं कि सामंतवाद की अपनी कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं जो सभी देशों के सामंतवर्ग में देखी जा सकती है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, 'विलासप्रियता, निष्क्रियता, अलंकार प्रेम, साहित्य में चमत्कारवाद - हर देश में सामंतवाद की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ रही हैं।' यदि हम विचार करें तो पाएँगे कि रीतिकालीन काव्य में हमें यही सब विशेषताएँ देखने को मिलती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतिवाद साहित्य में सामंतवादी संस्कृति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति था। यह उस दौर के प्रभु वर्ग की सांस्कृतिक ज़रूरतों को पूरा करने वाला साहित्य था।

लेकिन भारतीय सामंतवादी सामाजिक व्यवस्था की यही अकेली सांस्कृतिक पहचान नहीं थी। वर्ण व्यवस्था इसकी एक ओर पहचान है। यद्यपि वे इसे पूरी तरह से भारतीय सामंतवाद से ही नहीं जोड़ते और पश्चिम के सामंतवादी समाज व्यवस्था में भी उन्हें वर्ण व्यवस्था दिखाई देती है। वे लिखते हैं, 'हम लोग समझते हैं कि वर्ण व्यवस्था हमारे देश की विशेषता है। वास्तव में हर देश का सामंती समाज मोटे तौर से चार वर्णों जैसे वर्गों में बंटा हुआ मिलता है। मिसाल के लिए चौसर के समय और उसके पहले का इंग्लैंड पुरोहितों (क्लर्जी), भूमि के स्वामियों

(नाइट), सौदागरों (मर्चेंट) और ज़मीन जोतने वाले किसानों (सर्फ) में बंटा हुआ था। सामंतवाद के खत्म होने या कमजोर होने के बाद भी उससे जुड़ी सामाजिक व्यवस्था इतनी आसानी से नहीं टूटती। क्योंकि वे उसे शाश्वत और ईश्वर प्रदत्त मान लेते है।। रामविलासजी अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो लोग भारत में वर्णव्यवस्था को ईश्वरकृत मानते हैं, उन्हें पता होना चाहिए कि यह व्यवस्था सामंतवाद की उपज है। और किसी न किसी रूप में यह सभी समांती समाजों में विद्यमान रही है। लेकिन जहाँ-जहाँ सामंती समाज टूटे हैं वहाँ-वहाँ वर्ण व्यवस्था भी टूटी है। सामंती समाज से पहले के आदिम समाजों में वर्ण व्यवस्था नहीं मिलती। इसी प्रकार पूंजीवाद के विकास ने सामंती समाज के सामाजिक ढाँचों को तोड़ा और एक नये तरह का समाज बनाने का प्रयास किया। भारत जैसे देशों में जहाँ पूंजीवादी विकास के साथ वर्ण व्यवस्था भी टूट रही है, प्राचीनता प्रेमी और रूढ़िवादी इस टूट को कलयुग का अनाचार कहते हैं। यह सब भारत में जातियों (नैशनलिटी) के संगठन और दृढ़ होने का नतीजा है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वर्ग समाजों की सांस्कृतिक विशेषताओं को समाज के सभी हिस्से समान रूप से स्वीकार करते हैं। वर्ण व्यवस्था के उदाहरण से ज़ाहिर है कि इसका आरंभ से ही विरोध होता रहा। भक्ति आंदोलन का वे इसी दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं। वे लिखते हैं, 'हिंदी, बंगला, मराठी, पंजाबी, काश्मीरी आदि भाषाओं में भक्ति आंदोलन मनुष्य मात्र की समानता घोषित करने वाला एक व्यापक और शक्तिशाली आंदोलन था। यह आंदोलन वर्णों और मतमतांतरों में बंटे हुए सामंती समाज की व्यवस्था के विरुद्ध था, और इस व्यवस्था के कमज़ोर होने से वह उत्पन्न हुआ था। गरीब किसानों, कारीगरों, सौदागरों आदि की सक्रिय सहानुभूति से उसका प्रसार हुआ था।'

18.3 हिंदी जाति की अवधारणा

रामविलासजी का मानना है कि सामंती व्यवस्था के पतन के साथ भारत की आधुनिक भाषाओं का उत्थान जुड़ा हुआ है। भारत में पहले संस्कृत भाषा का वर्चस्व था जो वर्णव्यवस्था के अनुरूप उच्च वर्णों और धर्म की भाषा मानी जाती थी। मुग़लों के समय में फारसी राजभाषा थी। इस प्रकार ये दोनों भाषाएँ जनता की अपनी भाषाएं नहीं थीं। सामंतवाद के टूटने ने यह संभव बनाया कि वे भाषाएँ जिन्हें आम जनता व्यवहार में लाती थी, उन्हें विकसित होने का मौका मिला। रामविलासजी का दृढ़ मत है कि 'जनता की शिक्षा और सांस्कृतिक विकास उसकी भाषाओं में ही संभव है। इसलिए जो लोग अंग्रेज़ी या संस्कृत के द्वारा भारत की एकता बनाये रखना चाहते हैं, वे एकता के दृढ़ आधार को नहीं समझते, वे जनता की शक्ति नहीं पहचानते।' हिंदी क्षेत्र में भक्ति आंदोलन ने इस क्षेत्र की दो प्रमुख भाषाओं ब्रज और अवधी को विकसित होने का अवसर प्रदान किया। इस दौर में ये दोनों भाषाएँ न सिर्फ साहित्यिक भाषाओं के रूप में विकसित हुई बल्कि एक दूसरे के नज़दीक भी आई। इन भाषाओं में लिखा गया साहित्य सिर्फ अपने क्षेत्र में ही लोकप्रिय नहीं हुआ बल्कि अपने क्षेत्र से बाहर भी लोकप्रिय हुआ। लेकिन उन्नीसवीं सदी में जब पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ हुआ तो ब्रज और अवधी नहीं बल्कि खड़ी बोली को अपनाया गया। इसका कारण क्या था। क्यों ऐसा हुआ कि लगभग दो सदियों से साहित्य के क्षेत्र में वर्चस्व बनाए रखने वाली ब्रज की बजाए खड़ी बोली को अपनाया गया? इस पर प्रकाश डालते हुए रामविलासजी कहते हैं कि खड़ी बोली पश्चिम से पूर्व की तरफ़ आने वाले व्यापारियों के साथ हिंदी क्षेत्र में प्रसारित हुई। इस व्यापार का क्षेत्र जैसे-जैसे विकसित होता गया वैसे-वैसे खड़ी बोली हिंदी का भी फैलाव होता गया। चूँकि यह विस्तार अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन हो रहा था, इसलिए यह आधे-अधूरे ढंग से हुआ। हिंदी के विकास का संबंध जातीयता के विकास के साथ इसी रूप में है।

लेकिन हिंदी जातीयता के विकास के साथ उर्दू का संबंध भी गहरे रूप में जुड़ा है। हिंदी जिस क्षेत्र में प्रसारित हुई उस क्षेत्र में सैकड़ों सालों तक फारसी राजभाषा को पद पर कायम रही थी। रामविलासजी के अनुसार इसका नतीज़ा यह हुआ कि उच्च वर्गों में फारसी शिक्षा का माध्यम बनी हुई थी। यही वजह है कि इस क्षेत्र में खड़ी बोली का एक रूप और विकसित हुआ जिसे उर्दू के नाम से जाना जाता है। अंग्रेज़ों ने हिंदू और मुसलमानों में फूट पैदा करने के

लिए हिंदी और उर्दू के बीच विवाद को हवा दी। उन्होंने अरबी-फारसी प्रधान उर्दू को कचहरी और पुलिस के बल पर थोपने की कोशिश की और इस तरह वह जातीय उत्पीड़न का अंग बनी।

रामविलासजी ने इस बात पर विचार किया है कि कई लोग हिंदी क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियों को जातियों का दर्ज़ा देकर हिंदी जातीयता में अलगाव का नारा दे रहे हैं। इस तरह वे हिंदी जातीयता की बजाय ब्रज जातीयता, अवधी जातीयता, भोजपुरी जातीयता आदि की बात कर रहे हैं। यह अलगाव की भावना इस हद तक है कि हिंदी क्षेत्र को तेरह खंडों में बाँटने का प्रस्ताव किया जा रहा है। रामविलासजी का मानना है कि इससे हिंदी जातीयता का विकास होने में कठिनाई हो रही है। इसी तरह की बाधा का कारण वर्ण और जाति का प्रभाव भी है। हिंदी प्रांत के लोग अपने को ब्राह्मण, कायस्थ, गुजर आदि पहले समझते हैं और हिंदी जाति का बाद में समझते हैं।

जातीय चेतना और राज्यों का पुनर्गठन

जातीयता की चेतना रामविलासजी के अनुसार सामंतविरोधी चेतना है। जैसे-जैसे जातीयता का विकास हुआ, वैसे-वैसे विभिन्न जातीयताओं ने जातीय आधार पर राज्यों के निर्माण की माँग सामने रखी। अंग्रेज़ी साम्राज्य ने इस मांग को कभी स्वीकार नहीं किया। आज़ादी हासिल होने के बाद राज्यों के पुनर्गठन की माँग और ज़ोरों से उठी। इस माँग के समर्थन में उठे आंदोलन के कारण तत्कालीन कांग्रेस सरकार को राज्यों के पुनर्गठन की मांग माननी पड़ी। इसके लिए एक समिति बनाई गई। मुख्य भाषाओं के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन हुआ। रामविलासजी के अनुसार मुख्य भाषाओं के हिसाब से प्रांतों का नया संगठन करने की मांग उचित थी। इस मांग के पूरा होने से भारत की प्रमुख जातियों का ऐतिहासिक विकास क्रम आगे बढ़ता था। मुख्य भाषाओं के आधार पर राज्यों के निर्माण से जातीय चेतना के विकास को एक ठोस आधार मिला। रामविलासजी इस बात पर संतोष व्यक्त करते हैं कि राज्य पुनर्गठन समिति ने हिंदी राज्यों की बोलियों को इन क्षेत्रों की मुख्य भाषा स्वीकार नहीं किया। उन्होंने हिंदी को ही इन प्रांतों की जातीय भाषा स्वीकार किया।

भाषा और बोलियों को एक समझना रामविलासजी के अनुसार ठीक नहीं है। उनका साफ़ तौर पर मानना है कि किसी भी देश में जातीय भाषा के विकास के साथ बोलियाँ खत्म नहीं हो जातीं। किसी प्रांत की प्रमुख भाषा ही उसकी जातीय भाषा होती है, लेकिन उस प्रांत में अलग-अलग क्षेत्रों में उसी भाषा के कई रूप प्रयुक्त होते हैं। यही बात हिंदी प्रांतों पर भी लागू होती है। हिंदी भाषाई प्रांतों में प्रयुक्त होने वाली बोलियों का अस्तित्व यह प्रमाणित नहीं करता कि हिंदी उन प्रांतों की जातीय भाषा नहीं है। रामविलासजी के अनुसार यदि बोलियों के आधार पर हिंदी जाति को अलगाने का प्रयास किया जाएगा तो यह भारत की एक तिहाई जनता का अलगाव होगा। उनके अनुसार, 'हिंदी-भाषी जनता का संगठन और उसकी जातीय एकता सारे देश की जनता के संगठन और एकता के लिए आवश्यक है।'

रामविलासजी इस बात के समर्थक हैं कि हिंदी भाषी राज्यों को मिलाकर एक राज्य बनाना चाहिए। वे इस बात के कायल नहीं है कि छोटे राज्य होने से शासन चलाना सुविधाजनक होता है। उनका मानना है कि राज्य चलाने में सुविधा छोटे या बड़े राज्यों से नहीं बल्कि केंद्र और राज्यों के बीच अधिकारों के बंटवारे से है। इसी प्रकार वे इस बात के समर्थक नहीं हैं कि सभी भाषाओं के लिए अलग-अलग राज्यों की स्थापना होनी चाहिए। उनके विचार में, 'जिन भाषाओं को बोलने वाले बहुत बड़ी संख्या में नहीं है, उनके जातीय विकास के लिए मुख्य राज्यों के अंतगर्त स्वायत्त प्रदेश कायम किए जा सकते हैं।' इस प्रकार वे राज्यों के विकास को जातीय विकास से जोड़कर देखते हैं और यह मानते हैं कि 'हिंदी भाषी जनता का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह एक राज्य के अंतर्गत संगठित होकर अपना औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास कर सके।'

भारतीय संस्कृति बनाम जातीय संस्कृति

भारत अनेक भाषाओं और अनेक जातियों का देश है। प्रत्येक जाति की अपनी संस्कृति है। रामविलासजी के अनुसार, 'इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सामान्य तत्वों का, उनके समुच्चय का नाम भारतीय संस्कृति है। भारत की जातियों से भिन्न भारतीय संस्कृति की सत्ता कहीं नहीं है।' संस्कृति का विकास जातीयता के आधार पर होता है और सामाजिक संगठन के अंतर्गत होता हे। सामाजिक संगठन के बाहर संस्कृति का अस्तित्व नहीं होता। हिंदी भाषा के अस्तित्व से पहले हिंदी जाति का अस्तित्व नहीं था। जब हिंदी भाषा अस्तित्व में आई तो हिंदी जाति का गठन भी होने लगा। हिंदी जाति के गठन का काम अभी पूरा नहीं हुआ है इसलिए जातीय संस्कृति का विकास भी अभी जारी है। हिंदी जातीयता के निर्माण में कई बाधाएँ भी हैं। इनमें एक बाधा यह है कि अपने विशाल रूप के कारण दूसरों को तुच्छ समझने की भावना आ सकती है। दूसरे, इस क्षेत्र की बोलियों और उर्दू की समस्या है जो हिंदी जाति के विकास में बाधक बनकर उपस्थित होती है। इसके लिए ज़रूरी है कि हिंदी भाषी लोगों के बीच खासकर जनता के बीच व्यापक एकता का विकास किया जाए। यह तभी संभव है जब इस क्षेत्र की जनता अपने साझा हितों के लिए मिलजुलकर आंदोलन करे। आंदोलन पर आधारित जनता की एकता जातीय एकता का आधार बनेगी। जो लोग इस काम को नामुमकिन मानते हैं, वे न तो हिर्दी जनता की साझी विरासत से परिचित हैं और न ही वे इसके विकास के समर्थक हैं। लेकिन हिंदी जाति आज एक सच्चाई है।

डॉ. रामविलास शर्मा जब जातीयता के बारे में विचार करते हैं तो उनके सामने सिर्फ हिंदी जातीयता का प्रश्न उपस्थित नहीं रहता वे सारे देश की सभी जातीयताओं के बीच एकता को भी ध्यान में रखते हैं। वे यदि भाषा के आधार पर राज्यों के निर्माण के पक्षधर हैं तो वे किसी एक भाषा को दूसरे भाषाई समुदायों पर थोपने के विरोधी हैं। वे इस बात में दृढ़ विश्वास करते हैं कि अंग्रेज़ी या फारसी या संस्कृत को थोपकर लोगों में एकता नहीं लाई जा सकती उसी तरह हिंदी को भी थोपना उतना ही अनुचित होगा। स्वयं उनके शब्दों में, 'जो लोग बंगाल या महाराष्ट्र में बंगला या मराठी के बदले हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं, वे भारत की आधुनिक भाषाओं के विकास का महत्व नहीं समझते, वे इन भाषाओं द्वारा जनता के शिक्षण और सांस्कृतिक विकास का मूल्य नहीं पहचानते।'

राष्ट्रीय और जातीय एकता के मार्ग में यदि वे सामंतवाद को बड़ी बाधा मानते हैं तो दूसरी बड़ी बाधा उनकी नज़र में साम्राज्यवाद है। उनका मानना है कि भारत में विभिन्न जातियों के संगठित होने में साम्राज्यवाद एक बड़ी बाधा था इसलिए जातीय गठन और विकास की कोशिशों का साम्राज्यवाद विरोधी मूल्य भी है। रामविलासजी ने सामंतवाद विरोधी संघर्ष के रूप में भक्ति आंदोलन की भूमिका को स्वीकार किया है और भक्ति आंदोलन के विकास में आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास की भूमिका को स्वीकार किया है उसी तरह भारतीय भाषाओं ने साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसलिए आज़ादी हासिल करने के बाद इन विकसित भाषाओं को संरक्षण देना और उनको आगे बढ़ने के समुचित अवसर मुहैया करवाना ज़रूरी था।

इस प्रकार रामविलासजी ने अपने इस निबंध में हिंदी जाति की अपनी अवधारणा के प्रायः सभी पहलुओं को समेट लिया है। रामविलासजी के हिंदी जाति और जातीय संस्कृति की अवधारणाओं के महत्व को स्वीकार करते हुए भी इस बात से इंकार नहीं किया जा संकता कि इनके बारे में स्वयं हिर्दी भाषी समाज एकमत नहीं है। उनकी अवधारणाओं का आलोचनात्मक विवेचन हम आगे के खंडों में करेंगे। साथ ही एक विचारात्मक निबंध के रूप में भी उसकी विशेषताओं की समीक्षा इस इकाई में करने का प्रयास किया जाएगा।

18.4 'संस्कृति और जातीयता' का मूल्यांकन

डॉ. रामविलास शर्मा ने यह निबंध लगभग चार दशक पहले लिखा था। इसके बाद उन्होंने हिंदी जातीयता संबंधी अपने विचारों को और अधिक विस्तार दिया है। लेकिन इस संबंध में उनकी मूलभूत धारणाएँ वही हैं जो इस निबंध में व्यक्त हुई है। इस निबंध में व्यक्त उनकी धारणाओं की इस भाग में समीक्षा की गई है।

संस्कृति का सवाल

रामविलासजी ने संस्कृति शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि यह एक व्यापक शब्द है जिसमें मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान सभी का समावेश हो जाता हे। रामविलासजी का यह मत काफी हद तक सही है। यह भी सही है कि प्रत्येक जातीय समुदाय की अपनी लंबी सांस्कृतिक परंपरा होती है। उसी परंपरा से उसकी संस्कृति का खास स्वरूप बनता है। लेकिन यह निर्माण न एकाकी रूप में होता है, न ही एक आयामी रूप में। यह उस समुदाय के सामूहिक प्रयत्नों की अभिव्यक्ति है जो स्वयं निरंतर विकसित होती हुई संस्कृति को भी विकसित करती है। लेकिन ऐसा करते हुए वह दूसरे जातीय समुदायों के संपर्क में भी आती है और इस प्रक्रिया में उनसे रिश्ता बनाते हुए अपनी संस्कृति में उनके प्रभावों को ग्रहण भी करती है और उन समुदायों पर अपना प्रभाव भी छोड़ती है। संस्कृति निर्माण की प्रक्रिया सतत प्रवाहमान प्रक्रिया है जिसमें वह निरंतर कुछ पुराना छोड़ती और नया ग्रहण करती हुई चलती है।

संस्कृति के वैविध्यमय और बहुआयामी रूपों के विकास क्रम को हम उन ज्ञानानुशासनों, कलारूपों और अभिव्यक्ति माध्यमों से समझ सकते हैं जिनके अलग-अलग विकास और अध्ययन की लंबी परंपराएँ हैं। संगीत, चित्र, साहित्य, इतिहास, भाषा, वेशभूषा, खानपान, रीति-रिवाज, धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ, विचारधाराएँ आदि इसी सांस्कृतिक विकास के ही अलग-अलग अभिव्यक्ति रूप हैं।

जहाँ तक इस बात का सवाल है कि क्या प्रत्येक वर्ग की अपनी संस्कृति होती है, तो हमें इसको मार्क्सीय नज़रिये से समझना होगा क्योंकि स्वयं रामविलास शर्मा मार्क्सवादी चिंतक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार, संस्कृति का संबंध मनुष्य के उस दोहरे रिश्ते से है जो वह प्रकृति और दूसरे मनुष्यों से स्थापित करता है। मार्क्स का कहना है कि मनुष्य द्वारा औज़ारों और उपकरणों की मदद से प्रकृति में हस्तक्षेप, उसके अस्तित्व के लिए ज़रूरी भौतिक परिस्थितियों को पुनरुत्पादित करता है। लेकिन मानव विकास के इतिहास के आरंभ से ही श्रम द्वारा प्रकृति में हस्तक्षेप सामाजिक रूप में संगठित होता है। मनुष्य एक दूसरे से सहयोग करते हैं, श्रम का विभाजन इस तरह किया जाता है कि भौतिक परिस्थितियों के पुनरुत्पादन को पहले से बेहतर किया जा सके। यहीं से सामाजिक संगठन और मानव इतिहास की शुरूआत होती है। उत्पादन की शक्तियाँ और संबंध जिन तरीक़ों से और जिन ऐतिहासिक युगों में सामाजिक रूप में संगठित होते हैं, उन्हीं से समाज की व्यापक संरचना का निर्माण होता है। इसी प्रक्रिया में मनुष्य की सामाजिक चेतना का निर्माण होता है। मार्क्सीय विचारधारा में संस्कृति का संबंध अधिरचना से जोड़ा जाता है। वे सभी समाज जो वर्ग समाज होते हैं वहाँ संस्कृति का विकास उसी ऐतिहासिक प्रक्रिया में होता है जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। मार्क्स के अनुसार, 'जो वर्ग समाज की सत्ताधारी भौतिक शक्ति होता है, वह साथ ही उसकी सत्ताधारी बौद्धिक शक्ति भी होता है। जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं, उसका साथ ही साथ बौद्धिक उत्पादन पर भी नियंत्रण रहता है, और इस तरह साधारणतया जिन लोगों के पास बौद्धिक उत्पादन के साधन नहीं हो, उनके विचार इस वर्ग के अधीन रखे जाते हैं। सत्ताधारी विचार प्रभुत्वशाली भौतिक संबंधों की, यानी विचारों के रूप में ग्रहण किये जाने वाले प्रभुत्वशाली भौतिक संबंधों की बौद्धिक अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं होते, अतः वे उन संबंधों की अभिव्यक्ति हैं, जो एक वर्ग को सत्ताधारी बनाते हैं, इसलिए वे उसके

बातों के अलावा चेतना होती है, इसलिए वे सोचते हैं। इसलिए वे जहाँ तक एक वर्ग के रूप में शासन करते हैं तथा एक युग का विस्तार तथा परिधि निर्धारित करते हैं, उस हद तक यह स्वतः स्पष्ट है कि वे यह कार्य पूरे फैलाव के साथ करते हैं, इसलिए अन्य बातों के साथ चिंतकों के विचारों को पैदा करने वालों के रूप में भी शासन करते हैं और अपने युग के विचारों की रचना तथा वितरण का नियमन करते हैं। इस प्रकार उनके विचार युग के सत्ताधारी विचार होते हैं।' इन विचारों से साफ़ है कि संस्कृति को वर्गीय आधार पर विभाजित करना तो मुमकिन नहीं है लेकिन यह ज़रूर है कि एक समाज की जातीय संस्कृति पर उस समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग का वर्चस्व होता है। जातीय संस्कृति की चर्चा करते हुए इस वर्गीय वर्चस्व को ध्यान में रखना ज़रूरी होता है। इसका अर्थ यह भी है कि जातीय संस्कृति के वे तत्व जो प्रभु वर्ग के वर्चस्व को व्यक्त करते हैं और वे तत्व जो इस वर्ग के सांस्कृतिक और विचारधारात्मक वर्चस्व को चुनौती देते हैं, उनमें निरंतर संघर्ष चलता रहता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्हें आसानी से अलग किया जा सकता है या इन्हें सरलता से पहचाना जा सकता है। यह सांस्कृतिक संरचना उतनी ही जटिल होती है, जितनी कि सामाजिक संरचना होती है।

जहाँ तक राष्ट्रीय संस्कृति का सवाल है, भारत जैसे बहुजातीयता वाले देश में एक राष्ट्रीय संस्कृति का अर्थ सिर्फ़ इतना ही हो सकता है कि विभिन्न जातीय संस्कृतियों की स्वायत्तता और परस्पर संबद्धता को स्वीकार करते हुए उनमें अंतर्निहित एकता के सूत्रों को विकसित करना। यह कार्य संस्कृति की सहज स्वाभाविक विकास प्रक्रिया को अनुशासित और नियंत्रित करके नहीं किया जा सकता और न ही किसी एक जातीय संस्कृति की विशेषताओं को दूसरे की तुलना में अधिक तरजीह देकर किया जा सकता है। यही कारण है कि स्वयं रामविलास शर्मा 'अनेक विभिन्नताओं में एकता की अनुभूति' को राष्ट्रीय संस्कृति यानी भारतीय संस्कृति की विशेषता के रूप में स्वीकार करते हैं।

हिंदी जातीयता की संकल्पना

हिंदी जातीयता की चर्चा करते हुए रामविलासजी ने भाषा को मुख्य कारक माना है। आमतौर पर जातीयता का निर्धारण करने क लिए भाषा के अलावा तीन और कारकों का उल्लेख किया जाता हे। ये हैंः साझा क्षेत्र, सामान्य आर्थिक संबंध और एक इतिहास। कुछ विचारक धर्म को और कुछ नस्ल को भी जातीयता का आधार मानते हैं। ज़ाहिर है, ये दोनों कारक जातीयता के आधार इसलिए नहीं हो सकते क्योंकि ये दोनों अत्यंत व्यापक क्षेत्रों में फैले हो सकते हैं। मसलन ईसाई, बौद्ध और इस्लाम धर्म कई देशों में बहुसंख्यक आबादी का धर्म है। क्या इसी आधार पर उन्हें एक ही जातीयता का माना जा सकता है? और क्या इसी आधार पर उन्हें संगठित किया जा सकता है। आमतौर पर देखा यही गया है कि इस आधार पर एकता स्थापित करने के प्रयत्न सफल नहीं हुए। बल्कि इसने धार्मिक तत्ववाद को बढ़ाने में मदद की जिससे उस धर्म के गरीब, उत्पीड़ित लोगों के जीवन की मुश्किलें बढ़ीं। आमतौर पर धार्मिक तत्ववाद स्त्रियों और उत्पीड़ितों के लिए मुश्किलें बढ़ाने वाला ही साबित होता है। इसी प्रकार नस्ल के आधार पर भी मनुष्य जाति का विभाजन नहीं किया जा सकता। नस्ल के आधार पर श्रेष्ठ समझने की अवधारणा फासीवाद की पहचान है और फासीवाद ने दूसरे विश्व युद्ध में कितनी तबाही मचाई इसे यहाँ दोहराने की ज़रूरत नहीं है। फिर मानव इतिहास में नस्लों का इस हद तक मिश्रण हुआ है कि उन्हें विभाजन का आधार मानना वैज्ञानिक और ऐतिहासिक रूप से भी गलत है। इसलिए इन दोनों के अलावा जिन चार कारकों की हमने चर्चा की है, उनको ही हम जातीयता के संदर्भ में विचारणीय मान सकते हैं।

रामविलासजी ने सबसे ज्यादा महत्व भाषा को ही दिया है। यह सही है कि हिंदी भाषी क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से जुड़े हैं, लेकिन उनमें एकरूपता का अभाव है। इसमें हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश का पहाड़ी क्षेत्र भी है तो पश्चिम राजस्थान का विशाल मरुस्थल है। स्वयं उत्तर प्रदेश को पश्चिमी भू भाग और पूर्वी भू भाग उर्वरता की दृष्टि से एकरूप नहीं है। इस क्षेत्र में कई आदिवासी इलाके भी शामिल है और इन आदिवासी इलाकों में विशाल खनन भंडार है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूरे हिंदी क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति एक सी नहीं है और

इस कारण उसमें कभी उत्तराखंड, कभी झारखंड जैसे अलग राज्यों की मांग भी उठती रहती है। इस भौगोलिक प्रकृति की भिन्नता ने विशाल हिंदी क्षेत्र में कई ऐसी इकाइयाँ बनाई हैं जिनसे जुड़ी भावनाएँ बार-बार मज़बूत होकर हिंदी जातीयता की भावना से टकराती हैं।

हिंदी जातीयता के संदर्भ में इस क्षेत्र की बोलियों और उर्दू के साथ उसके रिश्ते का सवाल भी उपस्थित होता है। हिंदी और उर्दू एक ही क्षेत्र की भाषाएँ हैं और एक ही खड़ी बोली से इनका जन्म हुआ है। हिर्दी और उर्दू में भाषिक दृष्टि से समानता है। केवल शब्द भंडार, लिपि और साहित्यिक परंपराओं में दोनों एक दूसरे से अलग हैं। लेकिन किसी भाषा की पहचान का आधार उसका विशिष्ट व्याकरण होता है जिस पर वह आधारित होती है और इस लिहाज से हिंदी और उर्दू को अलगाना असंभव है। हिंदी से जुड़ा सवाल बोलियों का भी है। हिंदी भाषी राज्यों में से किसी राज्य के अधिकांश लोगों की मातृभाषा हिंदी नहीं है। शहरों की आबादी को छोड़ दें तो शेष जनता भोजपुरी, अवधी, मैथिली, राजस्थानी, ब्रज आदि बोलती है। यही नहीं राजस्थानी, मैथिली में तो आधुनिक दौर में भी साहित्य रचा जाता है और इसलिए साहित्य अकादमी ने इन दोनों को अपनी सूची में भाषाओं के रूप में शामिल कर रखा है। इसके बावजूद सच्चाई यह भी है कि इन सभी राज्यों में शिक्षा, राजकीय और संपर्क की भाषा के रूप में हिंदी का ही व्यवहार होता है। यही नहीं, जनसंख्या का अधिकांश हिस्सा मातृभाषा के रूप में 'हिंदी' ही लिखवाता है। इसलिए यह कहना काफी हद तक सही है कि हिंदी इन प्रदेशों के रहने वालों की भाषा है।

लेकिन केवल हिंदी को यह दर्ज़ा देना और उर्दू को हिंदी मे समाहित कर देना इस क्षेत्र के रहने वालों की जातीय आकांक्षाओं के पूरी तरह अनुरूप नहीं है। हिंदी और उर्दू दोनों का विकास इस क्षेत्र की एक ही बोली से हुआ है, लेकिन जिन्होंने ऐतिहासिक रूप से अलग-अलग ढंग से विकास किया है इसलिए इस क्षेत्र को सिर्फ़ हिंदी का क्षेत्र कहना कहाँ तक उचित है? क्या इसे हिंदी-उर्दू क्षेत्र नहीं कहा जाना चाहिए। यह सवाल इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि जातीयता के सवाल के इस पहलू की उपेक्षा करने से इस क्षेत्र की सांप्रदायिक स्थिति पर प्रतिकूल असर पड़ा है। उर्दू को अल्पसंख्यकों के विरुद्ध हमले क लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है। इस भाषा की जो उपेक्षा आज़ादी के बाद हुई है, वह इस बात का प्रमाण है कि किस तरह उर्दू को अल्पसंख्यकों के साथ जोड़ दिया गया जबकि किसी भाषा का संबंध उस क्षेत्र की जनता से होता है, न कि धर्म विशेष से।

डॉ. रामविलास शर्मा जातीय गठन की सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका मानते हैं। यह उचित ही कहा गया है कि 'जातीयता के गठन की आकांक्षा एक स्वाभाविक आकांक्षा है। जो हिंदी (और उर्दू) भाषी क्षेत्र के लोगों में मौजूद है। लेकिन जिसने अभी तक कोई निश्चित आकार नहीं लिया क्योंकि इससे जुड़े अंदरुनी और बाहरी सवालों का सर्वमान्य समाधान नहीं उभर पा रहा है।' डॉ. रामविलास शर्मा जातीयता के सवाल को जिस रूप में देख रहे हैं, उससे इस समाधान की संभावना अभी तो नज़र नहीं आती। इसके विपरीत जातीयता की इस मांग का लाभ पूंजीवादी और सामंती तत्वों को ही मिलता नज़र आ रहा है। इसलिए यह ज़रूरी है कि जातीयता के सवाल को जन आंदोलनों का हिस्सा बनाया जाए जिसकी आकांक्षा स्वयं रामविलासजी भी करते रहे हैं। केवल तभी, न केवल भारत राष्ट्र-राज्य में शामिल विभिन्न जातीयताओं के बीच सच्ची एकता कायम हो सकती है बल्कि स्वयं हिर्दी क्षेत्र में जाति, धर्म, भाषा, बोली आदि के आधार पर कायम तनावों और टकरावों का जनतांत्रिक सामधान पाया जा सकता है। यही नहीं इसी प्रक्रिया में कायम एकता द्वारा ही साम्राज्यवादी हमलों का मुकाबला किया जा सकता है।

18.5 लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव

डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन और खासतौर पर इस निबंध में व्यक्त विचारों को समझने के लिए हमें उनके जीवन से संबंधित महत्वपूर्ण तथ्यों को जानना ज़रूरी है। ग्रामीण और किसानी

पृष्ठभूमि, तुलसी आदि भक्त कवियों के साहित्य का संस्कार, राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रवादी विचारों का प्रभाव और बाद में मार्क्सवाद और समाजवाद का प्रभाव तथा प्रगतिशील लेखक संघ में सक्रिय भागीदारी ने उनके रचना व्यक्तित्व को बनाने में अहम भूमिका निभाई। मार्क्सवाद और राष्ट्रीय आंदोलन ने ही उन्हें यह समझ दी कि भारत विभिन्न जातीयताओं वाला देश है और इन जातीयताओं के विकास और उनकी पारस्परिक एकता के बिना न तो आजादी हासिल की जा सकती है और न ही उस आजादी की रक्षा की जा सकती है। जातीयताओं के विकास का संबंध सामंती व्यवस्था के पतन से है। यही कारण है कि वे सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई को अलग-अलग करके नहीं देखते। वे कहते हैं, 'जातियों का विकास और निर्माण सामंती व्यवस्था के ह्रास और पतन से ही संभव होता है। इसलिए जातीय चेतना का विकास भी सामंती विचारधारा का खंडन करता है, अपना प्रगतिशील मूल्य रखता है। अंग्रेज़ शासकों ने यहाँ का औद्योगिक विकास रोका, यहाँ के सामंती अवशेषों की रक्षा की, नवाबों, राजाओं और ताल्लुकदारों की रियासतें बनाए रख कर जातीय एकता कायम होने में बाधा डाली।' जातीय विकास को रोकने में साम्राज्यवाद की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं कि 'साम्राज्यवाद, जो अपनी कूटनीति से जातियों को संगठित न होने देता था। इसलिए जातीय गठन और जातीय चेतना के विकास का एक साम्राज्य विरोधी मूल्य भी है। जातीय विकास क्रम को पूरा करना देश-भक्ति का ही कार्य माना जाएगा।'

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जातीय विकास की ज़रूरत वे क्यों महसूस करते हैं। इसका उत्तर वे अपने जातीयता संबंधी लेखन में ही नहीं देते बल्कि उनका संपूर्ण लेखन और उसकी दिशा और दृष्टि इस बात का जबाव है। उनका स्पष्ट मानना है कि जातीय चेतना की सही समझ और उसके विकास से ही भारतीय एकता को दृढ़ किया जा सकता है। भारतीय एकता से उनका तात्पर्य जनता की एकता से है। वह जनता जो विभिन्न वर्गों और विभिन्न भाषाई समूहों में विभाजित है। इन विभिन्न भाषा-भाषी जनता के बीच एकता जब तक कायम नहीं होती है तब तक भारतीय जनता के बीच एकता कायम नहीं हो सकती। लेकिन एकता की बातें करने से एकता संभव नहीं है। वे यह बात अच्छी तरह से समझ गये थे कि 'विभिन्न जातियों की परस्पर एकता उनके उचित अधिकार मानकर ही की जा सकती है।'

लेकिन विभिन्न जातियों के उचित अधिकार का प्रश्न इतना सरल नहीं है। इसे समझने के लिए हमें एक बार फिर रामविलासजी के जीवन की ओर झांकना होगा। रामविलासजी उत्तर प्रदेश को रहने वाले थे। उत्तर प्रदेश को उस क्षेत्र के जिसे बैंसवाड़े के नाम से जाना जाता है। जहाँ के लोग घरों में खड़ी बोली नहीं बोलते। इसी प्रकार पूरे हिंदी प्रदेश में लोग ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, राजस्थानी आदि बोलियों का प्रयोग करते हैं। तब यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि हिंदी को क्या इस कथित हिंदी क्षेत्र की जातीय भाषा माना जा सकता है। इस संबंध में रामविलास शर्मा का मत बहुत साफ है। वे बोलियों और भाषा के अंतर को स्वीकार करते हैं और भाषा को ही जातीयता का आधार स्वीकार करते हैं। वे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इस बात को रखते हैं कि क्यों खड़ी बोली ही हिंदी जातीयता का आधार है और हिंदी प्रदेशों की शेष बोलियाँ चाहे वह अवधी हो या ब्रज या भोजपुरी उन्हें जातीयता का आधार स्वीकार नहीं किया सकता। दूसरा प्रश्न उठता है हिंदी और उर्दू का। उर्दू का जन्म भी उसी खड़ी बोली से हुआ है जिससे हिंदी का हुआ। हिंदी की तरह यह भी हिंदी प्रदेश की संपर्क भाषा के रूप में इस्तेमाल होती रही है। यदि हिंदी को जातीयता का आधार माना जा सकता है तो उर्दू को क्यों नहीं? रामविलास शर्मा ने अपने इस निबंध में हिंदी-उर्दू की समस्या को हिंदी जातीयता के बीच की एक अहम् समस्या माना है लेकिन वे इस पर सीधे तौर पर कोई राय नहीं देते। लेकिन वे इसी निबंध में अंग्रेजों की भाषा भेद नीति के बारे में लिखते हैं। उससे यह प्रतीत होता है कि वे उर्दू को अंग्रेजों की फूटपरस्त नीति का परिणाम मानते हैं। वे लिखते हैं, 'हमारे जातीय निर्माण की एक विशेषता यह थी कि यहाँ सैकड़ों साल तक फारसी राज-भाषा रह चुकी थी। इसका फल यह हुआ कि उच्च वर्गों में फारसी पढ़ी-पढ़ाई जाती थी और सुसंस्कृत शब्दावली वह समझी जाती थी जिसमें फारसी के शब्द अधिक हो। इसलिए एक ओर नज़ीर और मीर जैसे सरल उर्दू लिखने वाले कवि हुए दूसरी ओर फारसी गर्भित उर्दू लिखने

वालों की कमी न थी। अंग्रेज़ों ने इस भाषा को - जिसमें लिपि-भेद भी शामिल था - और आगे बढ़ाया। और विशेष रूप से जब सन् 1857 में उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों को अपने विरुद्ध मिलकर लड़ते देखा तब उन्होंने यह भेदभाव बढ़ाने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। कचहरी और पुलिस के द्वारा उन्होंने वह अरबी प्रधान भाषा चलाई जो उनके जातीय उत्पीड़न की नीति का अंग बन गई।' उनके इस कथन से जाहिर है कि वे हिंदी और उर्दू के सवाल को साम्राज्यवादी साजिश के रूप में देखते हैं लेकिन इसके लिए वे सारा दोष उर्दू पर मढ़ते प्रतीत होते हैं जिससे उनका हिंदी समर्थक दृष्टिकोण तो उजागर होता है लेकिन इस सवाल पर वस्तुगत दृष्टिकोण नहीं। बाद के अपने लेखन में उन्होंने हिंदी और उर्दू को एक ही भाषा के दो रूप माना है। जाहिर है कि इतना कहने से इस समस्या का समाधान संभव नहीं है। हिंदी और उर्दू की एकता के नाम पर हिंदी में उर्दू को समाहित कर उर्दू को एक स्वतंत्र भाषा के दर्जे से हटाने का प्रयास करना है। उर्दू के प्रति इस तरह का दृष्टिकोण सांप्रदायिक ताकतों के पक्ष में जाता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि रामविलासजी का नज़रिया भाषा को प्रति अंध हिंदीवादी है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं 'जो लोग बंगाल या महाराष्ट्र में बंगला या मराठी के बदले हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं, वे भारत की आधुनिक भाषाओं के विकास का महत्व नहीं समझते, वे इन भाषाओं द्वारा जनता के शिक्षण और सांस्कृतिक विकास का मूल्य नहीं पहचानते।' वे भारत देश के विकास को जातीय विकास के साथ जोड़कर देखते हैं। 'भारत का विकास उसकी विभिन्न जातियों के विकास से ही संभव है। इसके लिए बड़ी संख्या वाली जातियों के राज्य बनाना, छोटी संख्या वाली जातियों के स्वायत्त प्रदेश कायम करना, प्रत्येक जाति को अपनी ही भाषा में शिक्षा पाने और अपना सांस्कृतिक जीवन संगठित करने का अधिकार देना आवश्यक है। एक जातीय प्रदेश के अंदर दूसरी भाषा और जाति के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा भी आवश्यक है। इस तरह भारत सशक्त जातियों का संघ बनकर अजेय होगा।'

डॉ. रामविलास शर्मा अपनी हिंदी जाति की परिकल्पना के अनुकूल ही हिंदी प्रदेशों को मिलाकर एक राज्य बनाने की बात करते हैं और उत्तर प्रदेश को बांटने के विचार का विरोध करते हैं। लेकिन हम देखते हैं कि आजकल भाषाई आधार पर नहीं बल्कि कई अन्य आधारों पर प्रदेशों के बंटवारे का विचार पनप रहा है। जैसे उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों को मिलाकर उत्तराखंड बनाने की बात हो या बिहार के आदिवासी इलाकों से झारखंड बनाने की बात। ज़ाहिर है कि हिंदी प्रदेशों के अंदर जातीय अल्पसंख्यकों के अलावा अन्य तरह के वर्गों और समुदायों की आकांक्षा हिंदी जातीयता के साथ अपने को जोड़ने में समर्थ नहीं हो रही है। इनका परिणाम हिंदी प्रदेशों के विकास के लिए शुभ होगा या नहीं लेकिन रामविलासजी की यह इच्छा फलीभूत होती नज़र नहीं आती कि हिंदी प्रदेशों को मिलाकर एक कर दिया जाए।

जातीयता की अवधारणा का विचाराधारात्मक आधार लेखक को मार्क्सवादी चिंतन से मिला है। वे अपने मत के पक्ष में लेनिन और स्टालिन को उद्धृत भी करते हैं। जैसा कि हमने बताया है कि डॉ. रामविलास शर्मा का संबंध प्रगतिशील लेखक संघ से बहुत गहरा रहा है। महासचिव के तौर पर उन्हें देश के कई भागों में जाने का और दूसरी भाषाओं के लेखकों से बातचीत करने का अवसर मिला। बाद में उन्होंने हिंदी सहित भारतीय भाषाओं की प्रकृति और विकास का गहन अध्ययन किया। यही नहीं वे सिर्फ आलोचक और कवि ही नहीं थे। उन्होंने भाषा, दर्शन, राजनीति, इतिहास आदि विभिन्न अनुशासनों का भी गहन अध्ययन किया था और उन पर विद्वतापूर्ण पुस्तकें लिखी थीं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हिंदी जातीयता की अवधारणा उनके गहन अध्ययन और व्यापक अनुभवों का परिणाम थी। हिंदी जाति के प्रश्न पर रामविलासजी से पूरी तरह एकमत होना मुश्किल हो लेकिन इतना ज़रूर है कि उसके पीछे जो भावना और विचार है उससे हम असहमत नहीं हो सकते।

18.6 निबंध की भाषा-शैली

डॉ. रामविलास शर्मा कवि और आलोचक दोनों हैं, यह बात कही जा चुकी है। लेकिन इनके निबंधों में उनका आलाचेक और चिंतक का रूप ही अधिक हावी रहा है और कवि की भावुकता का असर उनके गद्य लेखन पर विरले ही नज़र आता है। रामविलास शर्मा ने आलोचक बनने के लिए जबर्दस्त तैयारी की थी। उनकी प्रतिभा विश्वकोशीय थी। अंग्रेजी के अध्यापक होने के बावजूद उनकी भाषा और शैली पर उसका असर नहीं के बराबर था। वे हिंदी गद्य की उस परंपरा के लेखक थे जिसमें हम महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल की गणना कर सकते हैं। रामविलासजी किसी भी विषय पर क्यों न लिखें अपनी बात को वे सदैव बहुत साफ़ और सहज ढंग से रखते हैं। उनका लेखन इस बात का प्रमाण है कि जटिल और गहन बात को भी अत्यंत सहज और सुबोधगम्य ढंग से पेश किया जा सकता है। इस बात को हम इस निबंध में भी देख सकते हैं। उदाहरण के लिए वे निबंध के आरंभ में ही संस्कृति को परिभाषित करते हुए अपनी बात जिस ढंग से रखते हैं उसे कोई भी आसानी से समझ सकता है। वे लिखते हैं, 'संस्कृति एक व्यापक शब्द है। उसके अंतर्गत मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य कला, विज्ञान ये सभी आ जाते हैं। ब्रह्म की तरह संस्कृति व्यक्त और अव्यक्त दोनों हैं। वाल्मीकि और व्यास के महाकाव्य, अजन्ता और एल्लोरा का शिल्प, स्थापत्य और चित्रकारी, त्यागराज और तानसेन का संगीत, ये सब संस्कृति के अंग हैं और वह उल्लास जो दीपावली के प्रकाश में फूट पड़ता है, वह शूरता जो 1857 और 1946 के विद्रोहों में प्रकट हुई थी, शांति और न्याय का वह प्रेम जो आज कोटि-कोटि भारतीय जनता को सोवियत और चीन के साथ विश्व-शांति की रक्षा के लिए आगे बढ़ा रहा है, यह सब भी संस्कृति का अंग है।' इस छोटे से अनुच्छेद में रामविलासजी ने संस्कृति को पारिभाषिक शब्दावली में नहीं रखा है बल्कि हमारे जातीय अनुभवों के ऐसे उदाहरणों के द्वारा रखा है जिनसे संस्कृति मूर्तिमान हो जाती है। यही नहीं हम अपनी लंबी सांस्कृतिक विरासत को भी अपनी पूर्णता में समझ पाते हैं। इसमें प्राचीन और अर्वाचीन, उत्तर और दक्षिण, काव्य और अन्य कलाएँ, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता के विभिन्न छोर एक साथ दिखाई देते हैं। लेकिन जहाँ वे अपनी बात को परिभाषित रूप में रखते हैं वहाँ भी वे उन्हें अत्यंत सरल ढंग से रखते हैं। मसलन, निम्नलिखित कथन को प्रस्तुत किया जा सकता है: 'मनुष्य का सांस्कृतिक विकास उसके सामाजिक जीवन से ही संभव हुआ है। मानव-संस्कृति मानव-जीवन से भिन्न नहीं है। मनुष्य ने अपना मानवत्व सामाजिक जीवन द्वारा ही प्राप्त किया है।' यह बात कहने के बाद वे फिर उदाहरण देकर विस्तार से इसको स्पष्ट करते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा का विस्तृत अध्ययन लगातार उनके लेखन में झलकता है। मसलन, जब वे वर्ण व्यवस्था के बारे में उल्लेख करते हैं तो वे यह भी बताते हैं कि यह व्यवस्था भिन्न रूपों में यूरोप के सामंती समाजों में भी रही है। इसी प्रकार जब भाषा और बोलियों की चर्चा करते हैं तो वे अन्य प्रदेशों और अन्य राष्ट्रों के उदाहरणों से अपनी बात पुष्ट करते हैं। इसके साथ ही, उनके लेखन में इतिहास दृष्टि का प्रभाव साफ़ देखा जा सकता है जिसके कारण उनकी बात का वजन और भी बढ़ जाता है। जब वे यह बताते हैं कि खड़ी बोली हिंदी का आधार क्यों बनी तो वे उसके लिए अतीत से प्रमाण जुटाते हैं 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और रामचंद्र शुक्ल ने खड़ी बोली के प्रसार का संबंध पश्चिम से पूर्व की ओर आने वाली जातियों से जोड़ा था। यह स्थापना सही है। आगरा, प्रयाग, काशी आदि में न जाने कितने व्यापारी पछाँह से आकर बसे थे। स्वयं दिल्ली और आगरा व्यापार के बहुत बड़े केंद्र थे। ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे' से पता चलता है कि यूरोप के व्यापारी अपनी सुविधा के लिए खड़ी बोली सीखते थे। व्यापार के प्रसार में भारत के भीतर खड़ी बोली का महत्व बढ़ा। सरदेसाई के अनुसार इटालियन यात्री मनुच्ची और शिवाजी की बातचीत खड़ी बोली में हुई थी। शेरशाह के समय से ही हिंदी भाषी क्षेत्र में व्यापार का प्रसार आरंभ हो गया था।' इस तरह के उदाहरणों से पाठक के सामने साफ़ हो जाता है कि खड़ी बोली हिंदी ही हिंदी जातीयता का आधार हो सकती है और यह प्रक्रिया आज से चार-पाँच सौ साल पहले से चल रही है।

रामविलासजी के निबंधों में विचारों की प्रधानता है लेकिन विचारों का उलझाव नहीं है। इसमें बहुत बड़ा योगदान उनकी भाषा का भी है। वे अपनी बात को सुलझे रूप में कहने में यकीन रखते हैं। इसके लिए वे बात को बहुत लंबे वाक्यों या जटिल शब्दावली में नहीं कहते। यदि वाक्य लंबे होते भी हैं तो जटिल तो वे कदापि नहीं होते। उदाहरण के लिए इस वाक्य को लिया जा सकता है जो अपेक्षाकृत लंबा है लेकिन जिसे समझने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती : 'जो लोग इस जातीय विकास और जातीय गठन का कार्य पूरा नहीं होने देना चाहते, उनसे निवेदन है कि वे इस तथ्य पर विचार करें कि हर संस्कृति की जातीय विशेषताएँ होती हैं, जातीय रूप होता है, हर भाषा की पूर्ण समृद्धि के लिए उसे बोलने वाली जाति का गठन आवश्यक होता है।' ज़ाहिर है कि तीन पंक्तियों में फैला यह वाक्य चार वाक्यों का ऐसा संयुक्त रूप है जो अपने में पूर्ण है और जिनमें विचार इस ढंग से रखे गये हैं कि वे पहले के विचारों को पुष्ट भी करते हैं और उनमें नया विचार जोड़ते भी हैं। यह रामविलासजी की भाषिक विशेषता है। मसलन उपर्युक्त वाक्य के बाद वे कई बातें और कहते हैं और प्रत्येक बात इस ढंग से कहते हैं कि वे उक्त वाक्यों में कही गई बात के प्रमाण भी हैं और नया विचार भी। 'जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, भाषा और संस्कृति के विकास और समृद्धि को रोकना। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, किसी जाति के अंदर विद्यमान राज्यसत्ता के जीवाणुओं को कुचलना।'

रामविलासजी की भाषा की दूसरी विशेषता है, उनका शब्द-चयन। उनके निबंधों में न तो तत्सम शब्दों का आग्रह रहता है न उनसे परहेज। वे ऐसे शब्दों के प्रयोग पर ज्यादा बल देते हैं जो शिक्षित लोगों में आम प्रचलन में हो और जिसे समझने में लोगों को ज्यादा कठिनाई न हो। इसके लिए जहाँ ज़रूरी हो वे दूसरी भाषाओं के शब्दों का इस्तेमाल करने में भी नहीं हिचकते। लेकिन वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि इन प्रयोगों से हिंदी की स्वाभाविक प्रकृति को किसी तरह की ठेस न पहुँचे। 'उद्योग-धंधों का मुख्य आधार दस्तकारी थी, लेकिन इस दस्तकारी का उद्योग राजाओं और नबाबों की विलासिता की चीज़ें तैयार करना ही न था, न यह दस्तकारी हर गाँव में सीमित रहकर उसी की ज़रूरतें पूरा करने के लिए थी। बनारस, लखनऊ और आगरा दस्तकारों के केंद्र थे और यहां की बनी हुई चीज़ें विदेश में इतनी बिकती थीं कि वहाँ के अपने उत्पादन को लिए खतरा पैदा हो गया था। उद्योग-धंधों को बढ़ाना व्यापार की मंडियों के रूप में बड़े-बड़े शहरों का पनपना सामंती अलगाव कम करता था और जनता को एकसूत्र में बाँधता था। यह हिंदी भाषी जाति के निर्माण का सिलसिला था।' उपर्युक्त पंक्तियों में हम पाते हैं कि वे यदि एक तरफ़ आधार, केंद्र, विलासिता, उद्योग, उत्पादन, निर्माण, एकसूत्र जैसे तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं तो साथ ही ज़रूरतें, चीज़ें, सिलसिला, खतरा, शहरों जैसे उर्दू शब्दों का भी बेहिचक प्रयोग करते हैं। लेकिन वे गाँव, पूरा, बिकना, बढ़ाना, पनपना, मंडियों जैसे बोलचाल के शब्दों का भी इस्तेमाल करते हैं। इससे उनकी भाषा का जो रूप बनता है वह सहज और सुबोधगम्य होता है। वे भाषा के द्वारा अपनी विद्वता का आतंक नहीं जमाते। वे अपनी बात से लोगों को प्रभावित करते हैं।

रामविलासजी के निबंध लेखन पर उनका आलोचक हमेशा हावी रहता है इसलिए वे अपनी बात को पूरे बल और प्रमाण के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनकी भाषा वाद-विवाद की भाषा की तरह है। पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे हम किसी अन्य लेखक के तर्कों का जबाब पढ़ रहे हों। यही कारण है कि वे अपनी बात को पूरे आत्मविश्वास और दृढ़ता के साथ रखते हैं। यद्यपि इस शैली की अपनी सीमाएँ भी हैं। इस बात में बहस मुबाहिसा हावी हो जाता है और मूल बात कमज़ोर पड़ने लगती है। इसी प्रकार कितनी भी गंभीर और गहन वैचारिक बात क्यों न हो उसका जो संवेदनात्मक पक्ष है उसकी उपेक्षा हो जाती है। कई बार रामविलासजी की बातें इतनी रूखी प्रतीत होती है कि वे दिमाग को छूकर निकल जाती है दिल को नहीं छू पाती। इसका असर उनकी भाषा पर इस रूप में दिखाई देता है कि वे लोकोक्तियों, मुहावरों, अलंकारों, बिंबों आदि का प्रयोग लगभग नहीं करते। इससे एक हद तक उनकी भाषा की साहित्यिकता और सर्जनात्मकता कम भी होती है। उनके निबंधों में वह जिंदादिली और

व्यंग्यात्मकता भी दिखाई नहीं देती जो भारतेंदु युग के निबंधकारों की विशेषता रही है और न ही वह लालित्य जो हमें हजारी प्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में दिखाई देता है। इसके बावजूद उनके निबंधों में उनकी गंभीरता और वैचारिक निष्ठा का प्रमाण अवश्य मिलता है।

18.7 सारांश

इस इकाई में आपने हिंदी के वरिष्ठ मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा के निबंध **संस्कृति और जातीयता** के बारे में अध्ययन किया है। संस्कृति और जातीयता एक वैचारिक निबंध है जिसमे लेखक ने **संस्कृति और जातीयता** को परिभाषित करते हुए उसके अतःसंबंधों को रेखांकित किया है।

संस्कृति एक व्यापक शब्द है जिसमें मनुष्य जीवन की सभी गतिविधियाँ आ जाती है। यही कारण हैं कि वे इसका संबंध मनुष्य के सामाजिक जीवन से जोड़ते हैं। वे संस्कृति को मानवत्व के विकास का आधार मानते हैं। लेकिन प्रत्येक देश और समाज की अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं को भी रेखांकित करते हैं। यही नहीं वे एक ही समाज के अलग-अलग युगों की सांस्कृतिक भिन्नता को भी रेखांकित करते हैं। मसलन, सामंतवादी समाज और पूंजीवादी समाज की भिन्नता भी वे बताते हैं।

संस्कृति जातीयता का आधार है और प्रमुख भाषाई समुदाय जातीय आधार पर गठित होते हैं। भारत विभिन्न जातीयताओं से मिलकर बना एक देश है। इन जातीयताओं के बीच एकता और भिन्नता को समझना वे ज़रूरी मानते हैं। हिंदी भाषा भारत की सबसे ज्यादा लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा है लेकिन अभी हिंदी जाति का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। इसके मार्ग में कई बाधाएँ हैं। जिसे रेखांकित करते हुए वे निम्नलिखित बातों को प्रस्तुत करते हैं : राज्यों के पुनर्गठन की समस्या, बोलियों की समस्या, हिदीं और उर्दू के संबंधों की समस्या आदि।

डॉ. रामविलास शर्मा विचारों में मार्क्सवादी थे और उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि ग्रामीण थी। लेकिन उन्होंने समाजवादी और प्रगतिशील आंदोलन में सक्रिय हिस्सा लिया था जिसका असर उनके लेखन पर भी दिखाई देता है। वे कवि और आलोचक थे लेकिन उन्होंने भाषा, दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि का भी गहरा अध्ययन किया था और इन विषयों पर गंभीर पुस्तकें भी लिखी थीं। इस विश्वकोशीय विद्वता का असर उनके लेखन पर भी दिखाई देता है।

डॉ. रामविलास शर्मा की निबंध शैली महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल की परंपरा में आती है। वे अपनी बातों को अत्यंत सहज और सुबोधगम्य रूप में पेश करने में प्रवीण है। वे गंभीर विचार को भी अत्यंत प्रभावशाली रूप में रखने में दक्ष हैं और उदाहरणों से अपनी बात को पुष्ट करते हैं। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा है जिसमें हिंदी का स्वाभाविक रूप देखने को मिलता है। वे तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों के साथ-साथ उर्दू के बोलचाल के शब्दों का भी इस्तेमाल करते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा के निबध लेखन की कुछ सीमाएँ भी हमारे सामने उजागर होती हैं। उनके लेखन में बहस-मुबाहिसे की शैली का प्रभाव है। उनमें विचारों का आग्रह तो झलकता है लेकिन भावनात्मक तरलता विरले ही नज़र आती है। भाषा भी उनकी सरल और सुबोधगम्य है लेकिन उसमें साहित्यिक रचनात्मकता का अभाव साफ़ देखा जा सकता है। इसके बावजूद यह कहा जा सकता कि रामविलास शर्मा के हिंदी निबंध परंपरा की अमूल्य निधि है।

अभ्यास

1. हिर्दी जातीयता की रामविलासजी की अवधारण की व्याख्या करते हुए बताइए कि आप इससे किस सीमा तक सहमत हैं?
2. **संस्कृति और जातीयता** के पारस्परिक संबंधों का भारतीय संदर्भ में विवेचन कीजिए।
3. **संस्कृति और जातीयता** के आधार पर रामविलासजी के निबंधों की विशेषताएँ बताइए।

इकाई 19 निबंध : तीसरे दर्जे का श्रद्धेय

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 हरिशंकर परसाई के लेखन की विशिष्टता
19.3 हरिशंकर परसाई का समय और व्यंग्य का महत्व
19.4 **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** की अंतर्वस्तु
19.5 **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** का संरचना शिल्प
19.6 **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** का प्रतिपाद्य
19.7 सारांश

19.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के चौथे खंड की यह अंतिम इकाई है। इससे पहले की इकाई में आपने डॉ. रामविलास शर्मा का निबंध **संस्कृति और जातीयता** के बारे में अध्ययन किया है। इस इकाई में आप प्रसिद्ध व्यंग्यकार श्री हरिशंकर परसाई की रचना **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** के बारे में पढ़ेंगे।

एक व्यंग्यकार के रूप में परसाईजी के लेखन की क्या विशिष्टता है, इस बारे में इकाई में विचार किया जाएगा। उनके लेखन में अपने समय और समाज की कैसी तस्वीर उभरती है, उसका कारण क्या है और उसके लिए वे व्यंग्य का सहारा क्यों लेते हैं, इस पर भी इकाई में विचार किया जाएगा।

तीसरे दर्जे का श्रद्धेय नामक निबंध आपके पाठ्यक्रम में निर्धारित है। आपने उसे पढ़ा होगा। इस निबंध में लेखक ने किन बातों पर विचार किया है। वे समाज में बुद्धिजीवी की भूमिका को किस रूप में देखते हैं और क्या वह अपनी भूमिका ईमानदारी से निभा रहे हैं? निबंध की अंतर्वस्तु और प्रतिपाद्य पर विचार करते हुए इन पक्षों का भी विवेचन किया जाएगा।

यह व्यंग्य निबंध का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसकी शैली और भाषिक विशेषताओं को जानना-समझना भी ज़रूरी है। इसको ध्यान में रखते हुए इकाई में निबंध की भाषा-शैली पर विचार किया जाएगा।

19.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 में आप 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' में रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-वृत्तांत, रिपोर्ताज आदि गद्य विधाओं से संबंधित इकाइयाँ आगे पढ़ेंगे। हिंदी नाटक और रंगमंच से संबंधित इकाइयाँ आपने पढ़ ली होंगी। गद्य की अन्य विधाओं में निबंधों से भी आपका परिचय हो चुका है। इस खंड में आप इससे पहले प्रतापनारायण मिश्र, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा के निबंधों के बारे में पढ़ चुके हैं। इस इकाई में आपके लिए हरिशंकर परसाई के व्यंग्य-निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** का विस्तृत अध्ययन-अनुशीलन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया जाएगा। इससे आप यह समझ सकेंगे कि हरिशंकर परसाई किस समय में रचनारत, किस तरह के रचनाकार रहे हैं? उन्होंने अपने व्यंग्य-निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** में किस पर व्यंग्य किया है और क्यों उन्होंने उस वर्ग को अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है? वे कौन-सी सामाजिक-राजनीतिक स्थितियाँ हैं जिन्हें लेखक ने अपने व्यंग्य निबंधों में उठाना उचित समझा है? उक्त रचना या अपनी अन्य

रचनाओं के माध्यम से हरिशंकर परसाई निबंध के स्वरूप और संरचना में क्या परिवर्तन करते हैं या उसमें कौन-से नए आयाम जोड़ते हैं? उनका शैली-शिल्प विधान किस प्रकार का रहा है? हमें आशा है कि प्रस्तुत इकाई पढ़कर आप परसाई जी की रचना **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** को समझने, उसका विश्लेषण और मूल्यांकन करने में सक्षम हो सकेंगे।

19.2 हरिशंकर परसाई के लेखन की विशिष्टता

श्री हरिशंकर परसाई मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले में जन्मे हिदीं के प्रतिष्ठित व्यंग्य निबंधकार हैं। उन्होंने अपने व्यंग्य की धार को निबंधों और कहानियों में अधिक उभारा है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गए उनके नियमित 'कॉलम' इसके प्रमाण हैं। कहानी-उपन्यासों की रचना भी उन्होंने की है किंतु उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। उनकी रचनाओं का विपुल संसार 'परसाई रचनावली' में समग्र संकलित होकर प्रकाशित हो चुका है। इसका क्रमिक अध्ययन करना आपके लिए रोचक होगा। विषयवस्तु की दृष्टि से देखें तो आप पाएँगे कि स्वतंत्र भारत में पनपने वाली विविधायामी मानसिकता, विशेषतः शासक-शोषक वर्ग की मनोवृत्ति में आता बदलाव, स्वार्थान्धता तथा शोषित-पीड़ित जनता की मजबूरियों की जीती-जागती तस्वीर उपस्थित करना परसाई जी के लेखन का उद्देश्य रहा है। विशिष्ट स्थितियों-घटनाओं के यथार्थ चित्रण में परसाई जी कोई रियायत नहीं बरतते हैं। वे कहीं भी पनप रहे छद्म को तुरंत पहचान जाते हैं तथा अपनी वैज्ञानिक दृष्टि के साथ उससे रू-ब-रू होकर कहीं सीधे-सहज आत्मीय वातावरण में उस पर प्रहार करते हैं तो कहीं तिलमिला देने वाली तीखी चोट करते हुए अपने विचार सूत्र को आगे बढ़ाते हैं। दरअसल उनकी रचनाओं में अपने साधारण देशवासियों की आशा आकांक्षाएँ, उनके जीवन-संघर्ष, उनकी असंगतियों-अंतर्विरोध अभिव्यक्त हुए हैं। उनका अनुभव-संसार बहुत व्यापक है। यदि उसे समेटने की कोशिश करें तो डॉ. श्यामसुंदर मिश्र के शब्दों में कह सकते हैं कि "परसाई के संपूर्ण लेखन को एक साथ सुनिश्चित क्रम में संजोकर इसे इस देश की ज़िंदगी का विश्वसनीय इतिहास बना सकते हैं, जहाँ जनसाधारण से लेकर बड़े-से-बड़े राजनीतिक नेता, प्रशासक, बुद्धिजीवी, मध्यमवर्गीय अध्यापक, डाक्टर, वकील, थानेदार, विश्व के बड़े-बड़े राष्ट्रनायक, कूटनीतिज्ञ, युद्धशास्त्री, प्रेमी-प्रेमिकाएँ, पूँजीपति, राजनीतिक और सामाजिक घटनाएँ, अपराध, अनाचार, दिशाहीनता, शोषण के अमानवीय रूपांतर, अकाल, भुखमरी, बाढ़, युवा आक्रोश, जन आंदोलन, सांप्रदायिक दंगे, धार्मिक अनाचार और इन सबसे बेखबर मध्यमवर्गीय शालीनता से आक्रांत रचनाकार और कलाकारों के साथ धार्मिक छद्म के साथ जकड़े हुए पंडे, पुजारी, महात्मा, भगवान, नए पंथों के संचालक और अध्यात्मवादी सभी एक साथ मिल जाएंगे।"

स्पष्ट ही यह स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का भारत है जो परसाई जी की रचनाओं में प्रामाणिकता के साथ उपलब्ध होता है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक विसंगतियों ने उन्हें अपने लेखन के लिए सामग्री प्रदान की है। वे मामूली से मामूली इंसान के दुःख-दर्द, मध्यवर्ग के चरित्र, उनके छद्म, उनकी स्वार्थान्धता तथा निम्न वर्ग की मजबूरियों में शामिल हो जाते हैं। उस 'परिवेश की विसंगति, मिथ्याचार असामंजस्य, अन्याय की तह में जाकर' (परसाई) उनके कारणों का विश्लेषण करते हैं। उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास करते हैं। इन्हीं सामान्य जीवनानुभवों के बीच उनकी संवेदना का निर्माण होता है। परसाई स्वयं स्वीकार करते हैं : "मैंने देखा कि दुःखी और भी हैं, इससे मेरी संवेदना का विकास हुआ। मैंने देखा कि जीवन में बेहद विसंगतियाँ हैं, अन्याय, पाखंड, छल, दोमुँहापन, अवसरवाद, असामंजस्य आदि हैं। मैंने इनके विश्लेषण के लिए साहित्य, दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र का अध्ययन किया।" इससे उन्हें अपने समय-समाज को समझने में आसानी हुई। नए शासक-शोषकों के गठबंधन की चालबाजियों-चालाकियों को समझने की दृष्टि मिली। साथ ही, यह विवेक पैदा हुआ कि उन्हें किस पर कैसे चोट करनी है।

19.3 हरिशंकर परसाई का समय और व्यंग्य का महत्व

आइये, अब परसाई के समय को जाने। परसाई मौटे रूप से स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के रचनाकार हैं। जिसे हम मोहभंग तो नहीं, आत्म विश्लेषण का समय कह सकते हैं। किंतु यह आत्म-विश्लेषण अधिक देर नहीं चलता। कारण, आज़ादी से पहले जिस सुनहरे भविष्य, शोषण मुक्त, समान अवसर प्रदान करने वाले समाज की कल्पना की गई थी, उस दिशा में कोई ठोस काम नहीं हुआ। बड़े उद्योग-धंधे अवश्य लगे। पर भ्रष्ट प्रशासन तंत्र तथा मूल्य-विहीन नेतृत्व ने आपाधापी, गरीबी, भुखमरी, विषमताओं को ही बढ़ावा दिया। विकास के नाम पर मध्यवर्ग, उच्च मध्यवर्ग का ध्यान रखकर काम किया गया, जिससे धनिकों को ही अधिक से अधिक लाभ मिला। दबी-कुचली जनता, हड़तालों-आंदोलनों के माध्यम से अपना प्रतिरोध जताती रही। चापलूस अफ़सर और सत्ता से चिपके नेता झूठे वायदों और नारों से जनता को बेवकूफ बनाते रहे। इससे मोहभंग, आक्रोश, दिशाहीनता को बढ़ावा मिला। इन सबके बीच परसाई की सृजनात्मक चेतना स्वरूप ग्रहण करती है। यह सन् 1950 के आसपास का समय है। इसी समय में हिदीं कहानी में भी नया उभार आता है। बदलते समाज और सामाजिक संबंधों को उसमें रूपायित किया जाता है। इस समय का विश्लेषण करते हुए श्री धनंजय वर्मा ने ठीक ही लिखा है : 'जब अधिकांश नए कहानीकार मध्यवर्गीय कुंठाओं के दायरे में सरगोशियाँ कर रहे थे, बूढ़े माँ-बाप से विद्रोह और अतीत मोह के सायों से लगभग आक्रांत थे, प्रणय और परिणय की ग्रंथियों से उलझे या तो टूटे पुरुष और बिखरी नारी के आँसू समूट रहे थे या फिर संवेदन-हीनता की खोल में दुबके अनुभूतिवाद के नाम से एक नए रहस्यवाद की शरण-चले गए थे... अकेलेपन और अजनबीयत, संत्रास और मृत्युबोध का जाप हो रहा था तब परसाई ने अपने चौतरफा समाज की बनत और रंगत, तात्कालिक राजनीतिक साजिशों, प्रशासन की अमानवीयता और धर्म और अध्यात्म के पाखंडों से छले जाते समकालीन आदमी की रोज़मर्रा तकलीफ को जबान दी।' यह वह परिप्रेक्ष्य है जो परसाई जी के रचनाकाल में चल रही साहित्यधारा को दर्शाता है। नई कविता-नई कहानी आधुनिकतावादी भावबोध से ग्रस्त दिखाई देती है, जहाँ मनुष्य या तो पशुवत आचरण करता है या यंत्रवत। स्त्री-पुरुष संबंध, शहरी-कस्बाई मानसिकता का द्वंद्व या आदमी की कुंठाएँ ही साहित्य कहला रहा था। तब इनसे बेखबर परसाई सामान्य जनता के दुख दर्द और उनके पीछे चल रही ताकतों पर व्यंग्य लिख रहे थे। परसाई ने अपने रचनाकर्म को लोक शिक्षण का माध्यम बनाया। शुद्ध कलावाद उनके साहित्य का कभी लक्ष्य नहीं रहा। उनकी मान्यता रही है कि जनसामान्य को जागरूक और चेतनासंपन्न बनाने का काम न तो गैर साहित्यिक है और न ही कलाविहीन। कला और साहित्य की सार्थकता रचना के सामाजिक उद्देश्य में ही निहित होती है।

प्रश्न हो सकता है कि परसाई जी ने अपने रचनाकर्म में व्यंग्यात्मक शैली को ही क्यों अपनाया? सीधी-सादी कहानी कहने में उनकी रुचि क्यों नहीं रही? क्या हम उन्हें अपने समय की समस्याओं से निरंतर जूझने वाला साहित्यकार वह सकते हैं? परसाई आज़ादी के बाद कथनी-करनी के बढ़ते अंतर से विक्षुब्ध रचनाकार रहे हैं। उन्हें मूल्यों का विघटन, अपसंस्कृति का फैलाव, पूँजीवादी-साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का छद्मवेश, मानवीय संवेदना की अपदस्थता, क्षुद्र स्वार्थ का आधिपत्य, संस्कृति, कला और साहित्य की दिशाहीनता, श्रम की उपेक्षा, भ्रष्टाचार को मान्यता जैसी विसंगतियां कचोटती रही हैं। संभवतः इसी ने उनमें व्यंग्य को जन्म दिया हो या उनकी करूणा को उभारा हो। इतना अवश्य है कि इन स्थितियों ने उन्हें शोषित-पीड़ित के प्रति सहानुभूति से भर दिया। परसाई मानते रहे हैं : 'अच्छा व्यंग्य सहानुभूति का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण होता है।' आखिर इस सहानुभूति की ज़रूरत ही क्यों आन पड़ी? शायद इसलिए कि अफसरशाह और राजनेता सिद्धांत, नैतिकता, मूल्य, ईमानदारी सबको ताक पर रख अंधाधुंध लूट-खसोट में लग गए थे। 'तुलसीदास चंदन घिसै' संग्रह में एक वाक्य है : 'किसी छोटे से बड़े नेता तक को आज ईमानदार और सिद्धांतवादी कहने में खतरा है।' इसलिए आलोचकों का मानना है कि परसाई जी अपने लेखन में जो चित्र उभारते हैं : 'इस चित्र में कसमसाता, छटपटाता हुआ भारत है जिसे एक और छद्म भारत ने दबोच रखा है। दबोचने वाला और दमित दोनों भारत सक्रिय हैं। दोनों के बीच निरंतर दांवपेंच चल रहे हैं। शोषक-

शोषित, उनकी समस्याएँ, सांस्कृतिक-आर्थिक आचरण सब परस्पर संबद्ध हैं। इस सघन परस्पर संबंधता को ही वर्तमानता की अखंडता समझिए। इसमें उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग सबके अपने-अपने दुःख हैं। दुःख और सुख विविध हैं, भिन्न हैं, परस्पर विरोधी हैं, छद्म हैं, सच्चे हैं।" (देश के इस दौर में, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी)

ध्यान रखने की बात है कि परसाई सतह पर दिखते यथार्थ से अपना साहित्य नहीं रचते। वे स्रोतों तक पहुँचते हैं। स्थितियों, घटनाओं के पीछे छिपी ताकतों को उधेड़ते हैं और इस प्रकार स्वार्थी तत्वों का चेहरा बेनकाब हो जाता है। ज़ाहिर है लेखक स्वयं को सामान्य जनता का हिस्सा समझता है। वह उनके खिलाफ़ होते षड्यंत्र को निष्क्रियतापूर्वक नहीं देख सकता है। वह निरंतर गहराती अमानुषीकरण की प्रक्रिया पर आक्रोश दिखाता उस पर आक्रमण करता है। जिससे कि बेहतर मानव समाज का निर्माण हो सके। उसे सक्रियता प्रिय है जो संघर्ष की प्रेरणा देती है। 'तिरछी रेखाएँ' संग्रह की भूमिका में वे कहते हैं : "सच्चा व्यंग्य जीवन की समीक्षा होता है। वह मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करता है। अपने से साक्षात्कार करता है, चेतना में हलचल पैदा करता है और जीवन में व्याप्त मिथ्याचार, पाखंड, असामंजस्य और अन्याय से लड़ने के लिए उसे तैयार करता है।" आज के परिवेश में यह मिथ्याचार और पाखंड और बढ़ गया है। इसलिए परसाई जी इन पर अपनी चुटीली शैली में आक्रमण करते हैं जिससे कि सही दिशा का निर्देश हो सके।

कथनीय है कि उन्होंने अपने व्यंग्य का निशाना हमेशा दूसरों को ही नहीं बनाया है और अपने को हमेशा पाक-साफ़ नहीं दिखाया है। वे खुद पर भी व्यंग्य करते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में 'मैं' और 'हम' का निरंतर आना-जाना लगा रहता है। उदाहरणार्थः "हम बहुत पाखंडी लोग हैं। हम अपने को प्राचीनतम और महान् संस्कृति वाले कहते हैं। आदर्शवादी समझते हैं, नैतिक मानते हैं, मगर हमसे ज्यादा क्रूर और नीच जाति दुनिया में कोई नहीं। अफ्रीका के जंगली कबीलों मे भी नारी पर उतने अत्याचार नहीं होते, जितने हम करते हैं और कहते हैं कि नारी पवित्र है, पूज्या है, माता है, जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवता रमते हैं।" यहाँ स्पष्ट ही पुरुष की तथाकथित सभ्यता और संस्कृति के बरक्स उसकी सामंती मनोवृत्ति को उजागर किया गया है।

19.4 'तीसरे दर्जे का श्रद्धेय' की अंतर्वस्तु

इस पृष्ठभूमि में अब हम परसाई के निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** को देखें। यह व्यंग्य-रचना 1976 में प्रकाशित उनके व्यंग्य संग्रह 'वैष्णव की फिसलन' में संकलित है। 'परसाई-रचनावली' में इसे खंड-तीन में स्थान मिला है। जिसके विषय में कहा गया है कि इस खंड में 'उनके ललित और विचारधारात्मक निबंध शामिल हैं।' हालांकि परंपरागत अर्थ में साहित्यिक लालित्य और विचारधारा इनसे बहुत दूर है। कम-से-कम **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** निबंध के विषय में कहा जा सकता है कि यह शुद्ध व्यंग्य-निबंध है जिसमें लेखक बुद्धिजीवियों की खबर लेता है तथा उनकी साधारण मध्यवर्गीय मानसिकता का खुलासा करता है। रचनाकार देश-दशा के प्रति उनकी निष्क्रियता को दर्ज़ करता है। परसाई जी किसी भी समस्या को बृहत्तर मानवीय संदर्भों में रखकर समझने का प्रयास करते हैं। उनका मानना है कि लेखक-बुद्धिजीवी समाज की नज़रों में बुद्धिमान और संवेदनशील तो बनना चाहते हैं पर श्रद्धेय होने के लिए जिस मानवीयता, त्याग-तपस्या, निस्पृहता, सहानुभूति और करुणा की आवश्यकता होती है, वह उनमें नहीं मिलती। परसाई जी यह भी मानते हैं कि हमारे जैसे गरीब-अशिक्षित समाज में बुद्धिजीवी का दायित्व अधिक बढ़ जाता है। वह एक ओर गरीब जनता के दुःख दर्द-मज़बूरियों को समझे तो दूसरी ओर उन्हें उनके अधिकार और दायित्वों के प्रति जागरूक करें, जिससे कि कोई भी निहित स्वार्थी तत्व उनकी अल्पज्ञता का लाभ उठाकर उनका शोषण न कर सके। पर होता इसके विपरीत ही है। अपनी मध्यवर्गीय मानसिकता के चलते बुद्धिजीवी अपने तक

सीमित, व्यक्तिवादी, अहंकारी हो जाते हैं और अपने देश की सामान्य जनता से कट जाते हैं। अन्य सामान्य लोगों के समान स्वार्थपूर्ति और दिखावा उनके भी मूल्य बन जाते हैं।

तीसरे दर्जे का श्रद्धेय व्यंग्य रचना का नायक बुद्धिजीवी-लेखक है। जिसके बारे में परसाई जी लिखते हैं कि वह 'बहुत थोड़े में संतुष्ट हो जाता है'। यानी वह उन व्यापार-बुद्धि वाले लोगों में से नहीं है, जो हर वक्त यह सोचते हों कि बेईमानी करके अधिक से अधिक कैसे कमाया जाए। उनके लाभ-लोभ की कोई सीमा नहीं होती। बुद्धिजीवी-लेखक उसकी तुलना में "थोड़े में संतुष्ट हो जाता है।" बस "उसे पहले दर्जे का किराया दे दो ताकि वह तीसरे में सफर करके पैसा बचा ले।" पैसा बचाना उसकी मज़बूरी है या आदत-परसाई इसकी चर्चा नहीं करते। लेकिन व्यंग्य करते हैं कि सामान्य-साधारण व्यक्तियों की तरह उसका भी जीवन-मूल्य पैसा है। शायद परसाई जी को इससे भी उतनी आपत्ति नहीं है। आपत्ति इससे है कि वह अपने को जन सामान्य से अलग क्यों समझता है? यदि वह श्रद्धेय बनना चाहता है, तो अपने अंदर बुद्धिजीवी होने का अहंकार और ढोंग क्यों पालता है? दरअसल अहंकार और ढोंग ही परसाई जी को विचलित करते हैं। उनकी दृष्टि में उसकी उन तथाकथित 'असभ्य' और 'दरिद्र' लोगों से स्वयं को अलग दिखाने की प्रवृत्ति ही अशोभनीय है। इसीलिए ये जनसामान्य के मान-सम्मान के योग्य नहीं रहे। इसीलिए **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** प्रेरणा नहीं देता वह शर्म देता है। फिर भी वह व्यापार-बुद्धि वाले लोगों से अलग है जो हर समय और हर जगह सार्वजनिक लूट की सोचते रहते हैं। ये बुद्धिजीवी कहीं न कहीं मानव सरोकारों के निकट होने के कारण ज्यादा की कामना नहीं करते। थोड़े में खुश हो जाते हैं। 'एकाध माला पहना दो, कुछ श्रोता दे दो और भाषण के बाद थोड़ी-सी तारीफ़ - वह मान जाता है इतने में।' पर अफ़सोस सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य एवं प्रतिबद्धता इनके पास भी नहीं है। रचनाकार स्वयं को इनका प्रतिनिधि मानते हुए समीक्ष्य रचना में एक ऐसी ही घटना की चर्चा करता है: 'मैं भी विश्वविद्यालय में भाषण देकर संतुष्ट था। उस शहर से बीस मील इधर के स्टेशन से मैं तीसरे से पहले दर्जे में आ गया था,जिससे मेजबानों को बुद्धिजीवी को तीसरे दर्जे से उतारने की शर्म न झेलनी पड़े।"

प्रकारांतर से परसाई का कहना है कि व्यक्ति श्रद्धेय अपनी त्याग-तपस्या से बनता है, न कि पैसे की पूजा से। पर आज के इस दौर में लोग धन-दौलत से श्रद्धेय बनना चाहते हैं। लेखक कहता है : 'गांधी जी की बात अलग थी। वे तीसरे को भी पहले दर्ज़े की महिमा दे देते थे। हम पहले दर्ज़े में बैठकर भी तीसरे की हीनता अनुभव करते हैं। संत और बुद्धिजीवी में यही फ़र्क है।' यानी आज के परिवेश में धन, शानो-शौकत का प्रभाव इतना बढ़ गया है कि लेखक इनके बिना हीनता का अनुभव करता है। ऐसे में सामान्य लोगों की तो बात ही क्या! उक्त व्यंग्य-रचना में आगे एक अन्य घटना का हवाला देते हुए परसाई लिखते हैं : 'पाठ्यक्रम में आ गया हूँ। कोर्स का लेखक हो गया हूँ। कोर्स का लेखक वह पक्षी है, जिसके पाँवों में घुंघरू बाँध दिए गए हैं। उसे ठुमक कर चलना पड़ता है। ये आभूषण भी है और बेड़ियाँ भी। रायल्टी मिलने लगती है, तो जी होता है कि 'सत्साहित्य' ही लिखो जिससे लड़के-लड़कियों का चरित्र बने। उसे आचार्यगण तुरंत गले लगा लेंगे। परेशानी यही है कि 'सत्साहित्य' कुल आठ-दस वाक्यों में आ जाता है, जैसे सत्य बोलो, किसी को कष्ट मत दो, ब्रह्मचर्य से रहो, पराई स्त्री को माता समझो, आदि।' यहाँ पाठ्यक्रम में आ जाने के "ग्लैमर' की चर्चा है। फिर 'सत्साहित्य' और समस्यापरक यथार्थवादी साहित्य की चर्चा है। उनका मानना है कि युगीन समस्या से जुड़े बिना कोई साहित्य 'सत्साहित्य' नहीं हो सकता। अपने एक अन्य निबंध में परसाई लिखते हैं : 'कितना ही प्रखर बुद्धिजीवी हो, अगर तीसर दर्जे से उतरता हुआ देख लिया जाता है, तो उसका मनोबल घट जाता है।... मैं मनोबल बनाए रखने के लिए पंद्रह-बीस मील पहले तीसरे से पहले दर्जे में आ जाता हूँ और पेट चाहे पचा न सके, अच्छे माँसाहारी होटल में ठहरता हूँ। पहला दर्ज़ा और गोश्त बुद्धिजीवी को प्रखर बनाते हैं।' परसाई अपनी इस रचना में ऐसे बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य करते हैं, जो अपनी सुख-सुविधा और स्वार्थ के प्रति जागरूक होते हैं, देश और समाज को प्रति नहीं।

समीक्ष्य व्यंग्य निबंध के मूल पर आते हुए परसाई जी फिर घटनासूत्र को बढ़ाते हैं तथा लेखक के रूप में अपने समय का आकलन प्रस्तुत करते हैं : " मेरे भाषण का विषय था - 'आज़ादी के पच्चीस वर्ष' सामने लड़कियाँ बेठी थीं, जिनकी शादी बिना दहेज के नहीं होने वाली थी। बैल की तरह मार्केट से उनके लिए पति खरीदना ही होगा। वर का बाप जचकी तक का खर्च जोड़कर ले लेगा। स्त्री के लिए अभी पत्नी के पद पर नौकरी सबसे सुरक्षित जीविका है और लड़के बैठे थे, जिन्हें डिग्री लेने के बाद सिर्फ़ सिनेमाघर पर पत्थर फैंकने का काम मिलने वाला है। आज़ादी के पच्चीस वर्षों का यही हिसाब है।" अतः रचनाकार की बुद्धिजीवियों से अपील है कि वे झूठी क्रांति का राग न गाएँ। हालाँकि बुद्धिजीवियों की हालत बड़ी अजीब है। परसाई जी लिखते हैं : "बुद्धिजीवी को क्रांति की बात करने में क्या लगता है, वह साहसी कहलाता है, लोकप्रिय होता है - मगर यह छद्म क्रांतिकारिता है। ऐसा लेखक सरकार पर नाटकीय हमले करके सारी, क्रांति विरोधी बुर्जुआ ताकतों को बचा ले जाता है।" यह है बुद्धिजीवियों का चरित्र। रचनाकार स्वयं भी जानता है। इसीलिए लिखता है : "तीन पहले दर्जे का किराया और पेट में मुर्गा बुद्धिजीवी को क्रांतिकारी बना देता है।" शोषक-शासक शक्तियाँ उसे खरीद लेती हैं। वह आँखें मूँद लेता है। इस तरह ये स्वार्थान्ध ताकतें अपना एजेंडा जनता में नीचे तक पहुँचाने, उन्हें बरगलाने में कामयाब हो जाती हैं। बुद्धिजीवी बाहर से जनता का हमदर्द बनता है, परिवर्तन और क्रांति की बातें करता है। पर अंदर-ही-अंदर उनसे मिलकर लाभ उठाता है। रचनाकार लिखता है: "मुर्गा दिन में सबसे पहले क्रांति का आह्वान करता है। क्रांति की बांग देता है और फिर धूड़े पर दाने बीनने लगता है। भारतीय बुद्धिजीवी का भी यही हाल है।" परसाई के अभिन्न मित्र गजानन माधव मुक्तिबोध भी अपनी कविता 'अंधेरे में' में लगभग यही बिंब प्रस्तुत करते हैं :

'दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर
दानों को चुगने चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कुट
कोई भी मुर्गा। यदि बाँग दे उठे जोरदार बन जाए मसीहा'।

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की जमात ही ऐसी है। उसकी विश्वसनीयता बहुत कम रह गई है। परसाई अपने एक अन्य निबंध में भी लिखते हैं : "इस देश के बुद्धिजीवी सब शेर हैं। पर वे सियारों की बारात में बैंड बजाते हैं।" इन्हीं सब कारणों से परसाई जी इन पर अपने व्यंग्य-बाणों की वर्षा करते हैं। परसाई जी को इनसे बहुत आशा थी पर उन्होंने निराश किया। उनका मानना था कि यदि ये सचेत रहे होते तथा सामान्य जन को सचेत करने का काम किया होता तो आज के जीवन में व्याप्त आशंका, अविश्वास और अनिश्चय का वातावरण न पैदा हुआ होता। आज जीवन के हर क्षेत्र में संदेह और असुरक्षा की भावना भीतर तक पैठ गई है। अपने समीक्ष्य निबंध में आगे परसाई जी लिखते हैं : "लौटने के लिए स्टेशन पहुँचा तो टहलते हुए सोचने लगा - इन पच्चीस वर्षों ने क्या दिया? इस समय मेरी क्या चिंता है। क्या मैं क्रांति की बात सोच रहा हूँ!? नहीं, मुझ में यात्रा की घबराहट है। मैं बार-बार टिकिट निकालकर देखता हूँ। आज का ही है? कहीं जाली तो नहीं है? रिजर्वेशन सही है कि नहीं? कोई भरोसा नहीं।"

हरिशंकर परसाई देश की दशा से चिंतित-विचलित हैं। वे उससे आँखें नहीं मूँद सकते। उसे दार्शनिक अंदाज़ में व्याख्यायित नहीं कर सकते। वे देशवासियों के चरित्र में आ रहे बदलाव को, सिद्धांत ओर व्यवहार के अंतर को जहाँ-तहाँ रेखांकित करते हैं। सिद्धांत आज सिर्फ़ दिखने के लिए रह गए हैं। जैसे कि गांधी जी का चित्र सिर्फ़ टाँगने के लिए रह गया है। जबकि जीवन-व्यापार गांधी जी के आदर्शों के विपरीत है। इसीलिए **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** का नायक टंगे हुए, चिपके हुए रेलवे टाइमटेबल पर विश्वास नहीं करता है। वह बाबू से पूछता है। यात्रियों से पूछता है। वह बाबू से दुबारा पूछता है, बाबू कहता है 'आपने अभी तो वह चिपका हुआ टाइम टेबल देखा है!' मैं कहता हूँ 'चिपके हुए का क्या भरोसा? पच्चीस सालों से क्या-क्या नहीं चिपका है इस देश में? संविधान के निर्देशक सिद्धांत चिपके हैं। पर अमल नहीं। चिपका है गांधी जी का वाक्य - 'स्वराज्य में हर आँख का आँसू पोंछा जाएगा'। मगर यही तय नहीं हो पा रहा है कि रूला कौन रहे हैं। पचपन करोड़ के हाथो में एक-एक रूमाल दे दिया गया है कि

लो, एक दूसरे के स्वराज्य के आँसू पोंछो। चिपके कागज़ का क्या भरोसा।' यह अविश्वास इस सीमा तक जनता में पैठ गया है कि दूसरों पर क्या अपने पर भी भरोसा नहीं होता। जब कोई व्यवस्था ठीक से काम नहीं करती तो व्यक्ति स्वयं उसी में ढल जाता है। निष्क्रिय-निकम्मा हो जाता है। ऐसे में चिंता, अविश्वास उसका स्थाई भाव बन जाता है। रचनाकार का कथन है : 'अब मुझे समय की चिंता लग गई है। रेलवे की घड़ी का भरोसा नहीं। महीनों बंद पड़ी रहती हैं ये घड़ियाँ। अपनी घड़ी देखता हूँ पर उस पर भी मुझे भरोसा नहीं। पता नहीं कब चाबी दी।' सिनिक होने की सीमा तक अविश्वास और संदेह की मानसिकता क्या फिर मुक्तिबोध की याद नहीं दिलाता?

समीक्ष्य निबंध के परवर्ती हिस्से में परसाई प्रकृतिस्थ होकर इन सारे घटनाक्रमों का सार इस रूप में प्रस्तुत करते हैं : 'सोचता हूँ मुझे क्या हो गया है? इतना अनिश्चय, इतना अविश्वास! क्या आज़ादी के पच्चीस वर्षों ने यही अनिश्चय और अविश्वास की मानसिकता दी है हमारी पीढ़ी को? और यही हम आगामी पीढ़ी को विरासत में दे रहे हैं?' कहना न होगा आज स्थिति इससे भी बदतर है। उपभोक्तावादी संस्कृति, उसका अनुचर मीडिया सबको लील रहा है। सब कुछ बिकाऊ माल में तब्दील हो रहा है। कुछ को छोड़ अन्य सभी उसके साथ हो लेने में भलाई देख रहे हैं। यह नहीं कि वे विवेकहीन हो गए हैं। दरअसल उनमें सक्रियता की कमी होती चली जा रही है। अपने आडम्बर और स्वार्थपूर्ति के चलते वे इन स्थितियों को अनदेखा कर रहे हैं। अतः उनकी आवाज़ भी भोंथरी होती चली जा रही है। उसे अच्छी तरह मालूम है : 'जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह 'समाजवाद मार्ग' है, पर ले कहीं और जा रहा है। महात्मा गांधी मार्ग पर सारे ठग रहते हैं। रवीन्द्र मार्ग पर बूचड़ खाना खुला है। परीक्षा में कोई बैठता है, और पास दूसरा हो जाता है।' पर वह क्या करे? अपनी सुख-सुविधाओं के चलते उसमें विरोध करने की नीयत और ताकत नहीं बची है। विरोध करने के लिए सारी सुख-सुविधाओं को त्यागना पड़ेगा। खतरे उठाने पड़ेंगे। क्या वह इसके लिए तैयार है? यदि नहीं, तो रचनाकार अंत में प्रश्न करता है क्या फिर संघर्ष का रास्ता छोड़ नियतिवादी बन जाया जाए? क्या अब यही विकल्प शेष है? परसाई लिखते हैं: 'दवा की शीशी पर नाम सही है, पर पता नहीं क्या खा रहे हैं? 'हनुमान भक्त' मेरा एक मित्र कहता है, 'अब आदमी पर भरोसा नहीं रहा। कुछ निश्चित नहीं है। अब तो हनुमानजी से प्रार्थना करते हैं कि अब के जब राम के काम से गंधमादन जाओ तो हमारे लिए भी पेचिश की दवा लेते आना।' आँखे मूँदना तो समस्या का कोई समाधान नहीं। कहीं न कहीं से तो प्रतिरोध की शुरुआत करनी होगी। अन्यथा स्थिति वही होगी, जो समीक्ष्य निबंध के अंत में लेखक की होती है : 'गाड़ी आती है। **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** जब अपनी सुरक्षित बर्थ पर जाते हैं, तो देखते हैं कि वहाँ कोई दूसरा बिस्तर फैला रहा है।'

19.5 'तीसरे दर्जे का श्रद्धेय' का सरंचना शिल्प

परसाई जी की संवेदना और सरोकार के बाद यदि हम उनके व्यंग्य-निबंधों के शैली-शिल्प का विश्लेषण करें तो पाते हैं कि उनके व्यंग्य-निबंध रूढ़ पारंपरिक शैली में बंधे निबंध नहीं हैं। उनके निबंधों में व्यक्तियों, स्थितियों, विचार सूत्रों के घात-प्रतिघात की श्रृंखला विद्यमान है। घटनाओं और दृश्यों के माध्यम से रचनाकार उसे एक ढीला-ढाला स्वरूप प्रदान करता है। जीवनानुभवों की विविधता और व्यापकता को ध्यान में रखते हुए भी परसाई जी ने निबंध को ही अपनी मुख्य विधा बनाया है। हिंदी के श्रेष्ठ निबंधकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है : 'संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है, अपने-अपने मानसिक संगठन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध सूत्र पर दौड़ता है|, किसी का किसी पर। ये संबंध सूत्र एक दूसरे से ऐसे नथे हुए, पत्ते के भीतर की नसों के समान, चारों और एक जाल के रूप में फैले हुए हैं।' इस संबंध सूत्र का ध्यान परसाई जी अपने निबंधों में सर्वत्र रखते हैं। बीच-बीच में घटनाओं के माध्यम से उसका विकास करते हैं। परिस्थितिजन्य विक्षोभ और संवेदना की तीव्रता के कारण भी निबंध उनके अनुकूल पड़ता है। अतः निबंध उनकी प्रिय विधा बन जाता है। कुछ आलोचक इन्हे व्यंग्य-निबंधकार नहीं, कहानीकार मानते हैं। परसाई जी ने कहानियाँ भी लिखी हैं, पर उनकी संख्या कम है। उनके निबंधों में ही कहानियों का भ्रम हो जाता है। कारण,

'परसाई निबंध कहते हैं। उनके निबंध कहानी के बहुत निकट हैं। वे कहानी जैसे लगते हैं। यहाँ कहानी का मतलब रूप की दृष्टि से प्रेमचंद जैसे लेखकों की कहानी से है। 'कहानी' यानी जो कही जाए - लिखी गई न मालूम पड़े।' (देश के इस दौर में, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी) कथनीय है कि उनके निबंध कहीं से गुरू गंभीर नहीं लगते हैं। उनके निबंधों का प्रारंभ प्रायः किसी घटना या प्रसंग से होता है। जैसे **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** निबंध में 'मैं' एक विश्वविद्यालय में भाषण देने जाता है। यह घटना उक्त निबंध के बीच में आकर कहानी का ढाँचा खड़ा करती है। किंतु ध्यान रहे, 'मैं' का चरित्र-चित्रण करना रचनाकार का उद्देश्य नहीं है। हालांकि 'मैं' परसाई के रचना संसार में सर्वत्र व्याप्त है। इस 'मैं' का चरित्र चित्रण करना इसलिए असंभव है क्योंकि 'वह साहसी, कायर, उदार, अनुदार, लोभी, दानी, अवसरवादी, त्यागी, स्वार्थी, प्रेमी, रसिक, गंभीर चिंतक, विदूषक, सच्चा-झूठा, क्रूर सहृदय कुछ भी हो सकता है।' वह रचना में कहीं से भी कूदकर आ सकता है। कहीं भी कोई दृष्टांत - उदाहरण दे सकता है। घटना घटित कर सकता है। फिर थोड़ी देर के लिये गायब होकर पुनः उपस्थित हो सकता है। कुछ विद्वानों ने इसे लोक संपृक्ति का प्रतीक माना है। कुछ ने परसाई जी का मुखौटा। इसके माध्यम से परसाई जी किसी भी समस्या पर स्वांग भर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकते हैं। इससे निबंध रचना में कहानी के साथ-साथ नाट्य तत्व का भी समावेश हो जाता है।

यथार्थ को कहने की बजाय परसाई जी उसे दृश्य में ढालना अधिक पसंद करते हैं। उनकी यह दृश्यता शब्द चित्र के रूप में या सादृश्य विधान के रूप में अधिक प्रकट होती है। **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** निबंध में रचनाकार का कोर्स के लेखक बन जाने पर यह उपमान लाना उनके सादृश्य विधान का ही प्रमाण है : 'कोर्स का लेखक हो गया हूँ। कोर्स का लेखक वह पक्षी है, जिसके पाँवों में घुंघरू बाँध दिए गए हैं। उसे ठुमक कर चलना पड़ता है।' प्रसंगतः परसाई जी के सहधर्मा रचनाकार नागार्जुन भी व्यंग्य में कोर्स में आ गई रचना को 'सुहागिन' रचना कहा करते थे। यह नाटकीयता का ही तत्व है जो परसाई जी की रचनाओ में प्रायः मिलता है।

दृश्यों, घटनाओं, स्थितियों के अनुसार उनकी भाषा तदनुरूप हो जाती है। कहीं तत्सम, कहीं तद्भव। अधिकांश में परसाई बोलचाल की भाषा में अपनी बात कहते पाए जाते हैं। विषयवस्तु की माँग के अनुसार वे कहीं देसी तेवर वाली मुहावरात्मक तो कहीं ठेठ तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ : 'मुर्गा दिन में सबसे पहले क्रांति का आह्वान करता है। क्रांति की बांग देता है और फिर धूड़े पर दाने बीनने लगता है। भारतीय बुद्धिजीवियों का भी यही हाल है।' यहाँ मुर्गा 'क्रांतिकारी' बुद्धिजीवियों का प्रतीक है, जो अपने लाभ-लोभ में लिप्त है। कहीं कोई अस्पष्टता न रह जाए, इसके लिए रचनाकार अपने मंतव्य को पुनः मुहावरात्मक शैली में अभिव्यक्त करता है। 'क्रांति की बांग, धूड़े पर दाने चुगना और हलाल होने का इंतज़ार करना। यों दूध और कलाकंद खाने वाले (नहीं, सेवन करने वाले) भी अपने को क्रांतिकारी बुद्धिजीवी कहते हैं, पर मैं नहीं मानता।' ध्यान दे, 'खाने वाले (नहीं, सेवन करने वाले) में अर्थ एक ही होते हुए भी व्यंग्य के अनुरूप 'खाने' में जो व्यंजना है, रचनाकार देसी भाषा के माध्यम से उसे स्पष्ट करता है। 'सेवन करने' में व्यंग्य की मारक क्षमता में कमी आ जाती है, परंतु नफ़ासत भी आ जाती है। लेखक भाषा में नफ़ासत पर नहीं, व्यंग्य की मारक क्षमता पर अपनी दृष्टि अधिक जमाए रखता है।

सारांश यह कि हरिशंकर परसाई के व्यंग्य-निबंधों की विषयवस्तु में जीवनानुभवों की विविधता, संवेदना की व्याप्ति और जटिलता मिलती है। जो विधा के रूप में उनकी रचना को कहीं औपन्यासिक बिखराव तो कहीं नाटकीय द्वंद्व से युक्त कर देती है। कहीं वे अपने मंतव्य को कम-से-कम शब्दों में संप्रेषित करते हैं। इसके लिए उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं रेखाचित्र और संस्मरणों की शैली को अपनाया है तो कहीं डायरी और रिपोर्ताज शैली को। ध्यान रहे, यहाँ भी रचनाकार के लिए कथात्मकता या दृश्यात्मकता नहीं अतः सूत्र के रूप में विद्यमान विचार सूत्र महत्वपूर्ण है। इसके लिए उन्हें चाहे जिस विधा या शैली-शिल्प को अपनाना पड़े।

क्या परसाई के समीक्ष्य निबंध या उनके अन्य व्यंग्य-निबंधों का उद्देश्य स्वातंत्र्योत्तर भारत की भ्रष्ट व्यवस्था, मूल्यहीनता या अवसरवादिता को उजागर करना है? शायद नहीं। परसाई अपने सृजनात्मक साहित्य के द्वारा उन लोगों के क्रियाकलापों को दर्शाना चाहते हैं जो हमारे देश की मानवीय विरासत को सिर्फ़ नारे के रूप में कभी-कभार इस्तेमाल कर रहे हैं और इस बहाने जनसामान्य का शोषण करने वाली ताक़तों के साथ मिल जनता को मूर्ख बनाने का प्रयास कर रहे हैं। परसाई जी पूरे प्राणपण के साथ अपनी रचनाओं में उनका पर्दाफ़ाश करते हैं और इन अमानवीय ताक़तों के खिलाफ उठ खड़े होने का आह्वान करते हैं।

19.6 'तीसरे दर्जे का श्रद्धेय' का प्रतिपाद्य

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में यदि **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** के नायक बुद्धिजीवी-लेखक को देखें तो प्रश्न उठता है कि आखिर वह हीनताग्रंथि से पीड़ित क्यों है? शायद यह उसका अपना खोखलापन है। मिथ्या आदर्श और ढोंग से पैदा आत्मविश्वास की कमी है। उन्हें अपने देश, अपने समाज के लिए जो कुछ करना चाहिए था - उसमें वे बुरी तरह चूक गए हैं। स्वयं को भी इसी वर्ग में सम्मिलित करते हुए परसाई 'सदाचार का ताबीज़' व्यंग्य संग्रह की भूमिका में लिखते हैं : 'बुद्धिजीवियों ने इस देश के साथ **धोखा** दिया। इस देश की जनता के साथ घृणित छल किया ... हमने नासमझी और गैर जिम्मेदारी और कायरता अख्तियार की। हमने कोई खतरा नहीं उठाया।' (कैफियत से) इससे क्या हुआ? समीक्ष्य निबंध में 'आज़ादी के पच्चीस वर्ष' वाले भाषण में हमारे आज के जीवन की वास्तविकता, उसके कटु सत्य व्यक्त हुए हैं। सब कछ को हमने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपने हित में इस्तेतमाल करना सीख लिया है। सारे सिद्धांत नारे बन गए हैं। इससे आगे उनकी कोई हैसियत ही नहीं बची। बल्कि काम उसके विपरीत ही किया जा रहा है। परसाई इससे बहुत दुःखी और विक्षुब्ध हैं। इसीलिए वे बुद्धिजीवियों पर बार-बार व्यंग्य करते हैं। उन्हें जगाने का प्रयास करते हैं।

निष्कर्ष यह कि हरिशंकर परसाई जीवन और साहित्य में बनी-बनाई हर कसौटी को तोड़ते हैं। आडम्बर और अनावश्यकता उनके यहाँ न विषयवस्तु में मिलती है, न भाषा-शैली में। वे सरल, रोचक और मार्मिक ढंग से अपनी बात पाठक के हृदय में उतार देते हैं। जीवन की जटिलताओं के आर-पार जाते हुए वे जनता की छिपी शक्तियों को उभारने का प्रयास करते हैं। कथनीय है कि जनता में उन्हें असीम विश्वास है। जिसका उल्लेख उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र मिलता है। स्पष्ट है, इस प्रक्रिया मे हमें उनके व्यापक अनुभव, गहरी अध्ययनशीलता, वैज्ञानिक विचार दृष्टि तथा यथार्थ को पकड़ने-विश्लेषित करने वाली रचनात्मक क्षमता के दर्शन होते हैं। **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** निबंध इसका प्रमाण है।

19.7 सारांश

आपने इस चौथे खंड की अंतिम इकाई का अध्ययन कर लिया है। इस इकाई में हरिशंकर परसाई द्वारा लिखित निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** के विवेचन का अध्ययन किया है। यह एक व्यंग्य निबंध है। व्यंग्य निबंध वैचारिक, भावात्मक और ललित निबंध से किस रूप में अलग है, इस बात को आप इस पूरे खंड का अध्ययन करने से समझ गए होंगे। निबंधों में व्यंग्य का प्रयोग सबसे अधिक भारतेंदु युग के लेखकों ने किया था, जिसकी एक झलक आप **धोखा** निबंध के अध्ययन के दौरान देख चुके हैं। लेकिन व्यंग्य निबंध को एक स्वतंत्र विधा के रूप में मान्यता दिलवाने का श्रेय श्री हरिशंकर परसाई को है।

परसाई जी प्रगतिशील रचनाकार थे। उन्होंने व्यंग्य के माध्यम से समाज में व्याप्त-शोषण, उत्पीड़न, भ्रष्टाचार, कुरीतियों को उजागर किया है, विशेषकर समाज के शक्तिशाली वर्गों के दोहरे चरित्र, उनकी विसंगतियों और समाज के कमज़ोर वर्गों के जीवन के कष्टों और विडंबनाओं को उन्होंने अपनी रचनाओं का विषय बनाया है।

तीसरे दर्जे का श्रद्धेय एक व्यंग्य निबंध है जिसमें उन बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य किया गया है जो बातें तो क्रांतिकारिता की करते हैं, लेकिन जिनका जीवन छोटे-छोटे स्वार्थों की पूर्ति करने से संचालित होता है। जो सरकार और राजसत्ता के विरुद्ध आग उगलते हैं, लेकिन मामूली से लाभ के लिए किसी भी तरह का समझौता करने से नहीं कतराते। इसके लिए वे अपने व्यंग्य में दृष्टांतों का भी सहारा लेत हैं। ये ऐसे बुद्धिजीवी हैं जो पहले दर्जे का किराया लेकर तीसरे दर्जे में यात्रा करते हैं। जिनकी हैसियत तो साधारण लोगों-सी होती हैं, लेकिन जो अपने को उनसे अलग और विशिष्ट समझते हैं।

इस निबंध को व्यंग्य निबंध कहा गया है। लेकिन परसाई जी के निबंधों में कहानी की विशेषताएँ और कहानी में निबंध की विशेषताएँ पाई जाती हैं। यह हम इस रचना में भी देख सकते हैं। इसके बावजूद इसे हम कहानी इसलिए नहीं कहेंगे कि इसमें कहानी के सभी तत्व नहीं है। न तो कथावस्तु है, न चरित्रों का सम्यक् चित्रण। 'मैं' शैली में लिखा गया यह निबंध कहानी की विशेषताओं का इस्तेमाल करता है।

इस निबंध की भाषा बोलचाल की भाषा है। बोलचाल की भाषा को व्यंग्य के अनुकूल बनाने के लिए वे ऐसी कथन-भंगिमा इस्तेमाल करते हैं जिसमें कहानी, कविता, लोककथा, उपदेशात्मकता आदि कई तत्वों का इस्तेमाल होता है। इनके व्यंग्य निबंध में न तो वैचारिकता की बोझिलता होती है, न भावनाओं का ऊहापोह। इसके बावजूद भाषा में इन सभी बातों का प्रभाव स्पष्ट नज़र आता है।

इकाई के अध्ययन से आपको उक्त निबंध की विशेषताओं को समझने में मदद मिली होगी।

अभ्यास

1. व्यंग्य निबंध की विशेषताओं की दृष्टि से परसाई जी के निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** का विवेचन कीजिए।
2. **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** में बुद्धिजीवियों पर किये गये व्यंग्य से लेखक क्या कहना चाहता है? अपना मत प्रस्तुत कीजिए।